ओ३म्

सांख्य दर्शन

का

सांख्यार्य्य भाष्य

भाष्यकार

पंडित आर्यमुनि जी

श्री पण्डित आर्य्यमुनि जी महामहोपाध्याय

ओ३म्

प्रकाशक का निवेदन

महर्षि कपिल मुनि प्रणीत सांख्यदर्शन अति प्राचीन शास्त्र है। अन्य दर्शनों की भांति यह भी त्रैतवाद का पोषक है। मुख्यत: सांख्यदर्शन में जड़ प्रकृति को जगत् का मूल उपादान कारण माना गया है। ईश्वर को इस जगत् का अधिष्ठाता प्रधान निमित्तकारण और जीव को सामान्य निमित्तकारण माना है। पुराकाल में इस दर्शन पर अनेक भाष्य और टीकायें विद्यमान थीं तथा यह शास्त्र अति प्रसिद्ध था ऐसा भारतीय प्राचीन संस्कृत वाङ्मय से परिलक्षित होता है। लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व कुछ ऐसे सांख्याचार्य हुये जिन्होंने अज्ञानवश महर्षि कपिलाचार्य को निरीश्वर-वादी=नास्तिक ठहरा दिया। इस असत्य का प्रचार अनेक शताब्दियों तक रहा, प्रभाव अभी तक भी है कुछेक अंग्रेज विद्वानों ने तो कपिल मुनि की सत्ता तक को अस्वीकार कर दिया और सांख्यदर्शदन को महर्षि कपिल के नाम से किसी अन्य विद्वान का रचा हुआ बताने का भी दुस्साहस कर दिखाया। किन्तु इस युग के नव निर्माता और आर्ष ज्ञान के पुनरुद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सांख्यदर्शन के अन्त: साक्ष्य से ही इस भ्रामक प्रचार का प्रबल खण्डन करके सभी को वास्तविकता से परिचित करा दिया।

यद्यपि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सांख्यशास्त्र पर भागुरि मुनिकृत भाष्य वृत्ति सहित पढ़ने पढ़ाने का आदेश दिया है, किन्तु दौर्भाग्य की बात है कि विदेशी आक्रान्ताओं ने भारतीय साहित्य को सैंकड़ों वर्षों तक नष्ट करने में घोर पुरुषार्थ किया है इसी कारण ऐसे ग्रन्थ रत्न मिलने आज दुर्लभ हो गये हैं। विद्याप्रमी, अन्वेषणशील और पुरुषार्थी विद्वानों को चाहिये कि ऋषिदयानन्द द्वारा निर्दिष्ट अनुपलब्ध दर्शन भाष्यों का अन्वेषण करके जनता का उपकार करें।

इन्हीं महर्षि दयानन्द की दया से आर्य समाज में भी उच्च कोटि के अनेक दार्शनिक विद्वान् उत्पन्न हुये हैं, जिनमें महामहोपाध्याय पण्डित आर्य्यमुनि जी, स्वामी दर्शनानन्द जी, श्री हरिप्रसाद वैदिक मुनि, स्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती, पं० उदयवीरजी आचार्य दर्शन केसरी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पं० आर्यमुनि जी ने अपने जीवन काल में सभी दर्शनों का भाष्य करके प्रकाशित करवाया। इनके भाष्य वैदिक

साहित्य के सर्वाधिक अनुकूल तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये अत्यन्त ही उपयोगी हैं। बहुत समय से उनके दर्शनों के भाष्य उपलब्ध नहीं हो रहे थे। आर्यजनता को यह अभाव बहुत वर्षों से खटक रहा था। इस अभाव को दूर करने के लिये पं० आर्यमुनि जी कृत षडदर्शनों का भाष्य प्रकाशित करने की योजना 'हरयाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर' ने बनाई थी। उसी योजना के अन्तर्गत 'योगार्य्यभाष्य' प्रकाशित हो चुका है तथा यह 'सांख्यार्य्यभाष्य' अब आपके हाथों में है। इससे पूर्व यह सांख्य दर्शन संवत् १९६३ विक्रमी (सन् १९०६ ई०) में लाहौर से प्रकाशित हुआ था। सत्तर वर्ष के उपरान्त एक प्रकार से इसका पुनरुद्धार हुआ है।

दर्शन भाष्यों के प्रकाशन सम्बन्धी पवित्र और उपयोगी कार्य के लिये चौधरी देवकराम जी आर्य्य ग्राम दूबवा, भिवानी (हरयाणा) निवासी उदार हृदय सज्जन ने हमें सहायतार्थ धन-राशि दान दी है। हम हृदय से इनके अत्यन्त आभारी हैं तथा ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि इनकी ऐसी पवित्र भावनायें सदा बनी रहें। इनका चित्र भी इस ग्रन्थ में प्रकाशित कर दिया है। यदि अन्य दानी महानुभाव भी इसी भांति आर्थिक सहयोग देते रहें तो षड्दर्शनों का आर्यभाष्य प्रकाशित करने की हमारी योजना शीघ्र ही पूरी हो सकती है। ईश्वरानुग्रह से यह कार्य अवश्य पूरा होगा, इसकी हमें पूर्ण आशा है।

ओ३मानन्द सरस्वती
अध्यक्ष
हरयाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर

वैशाखी २०३३ वि०

६ शास्त्रों का आर्यभाष्य १०१) में

६ शास्त्र (योग, सांख्य, न्याय वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त) महामहोपाध्याय पण्डित आर्यमुनि विरचित आर्यभाष्य सहित १० भागों में प्रकाशित किये जा रहे हैं, जिनकी पृष्ठ संख्या लगभग पांच हजार होगी। योग और सांख्य छपकर तैयार हो गये हैं। शेष दर्शन भी शीघ्र ही छपने वाले हैं।

आर्यप्रतिनिधि सभा हरयाणा की ओर से आयोजित आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह के अवसर पर ३१ मई १९७६ तक अग्रिम राशि जमा करवाने वाले सज्जन सभी शास्त्रों का आर्यभाष्य १०१) में प्राप्त कर सकेंगे। इसके पश्चात् छः शास्त्रों का मूल्य २००) होगा। दर्शन प्रेमी सज्जन तथा पुस्तकालयों के अधिकारी लोग अधिक से अधिक संख्या में ग्राहक बनकर लाभ उठायें। **—प्रकाशक**
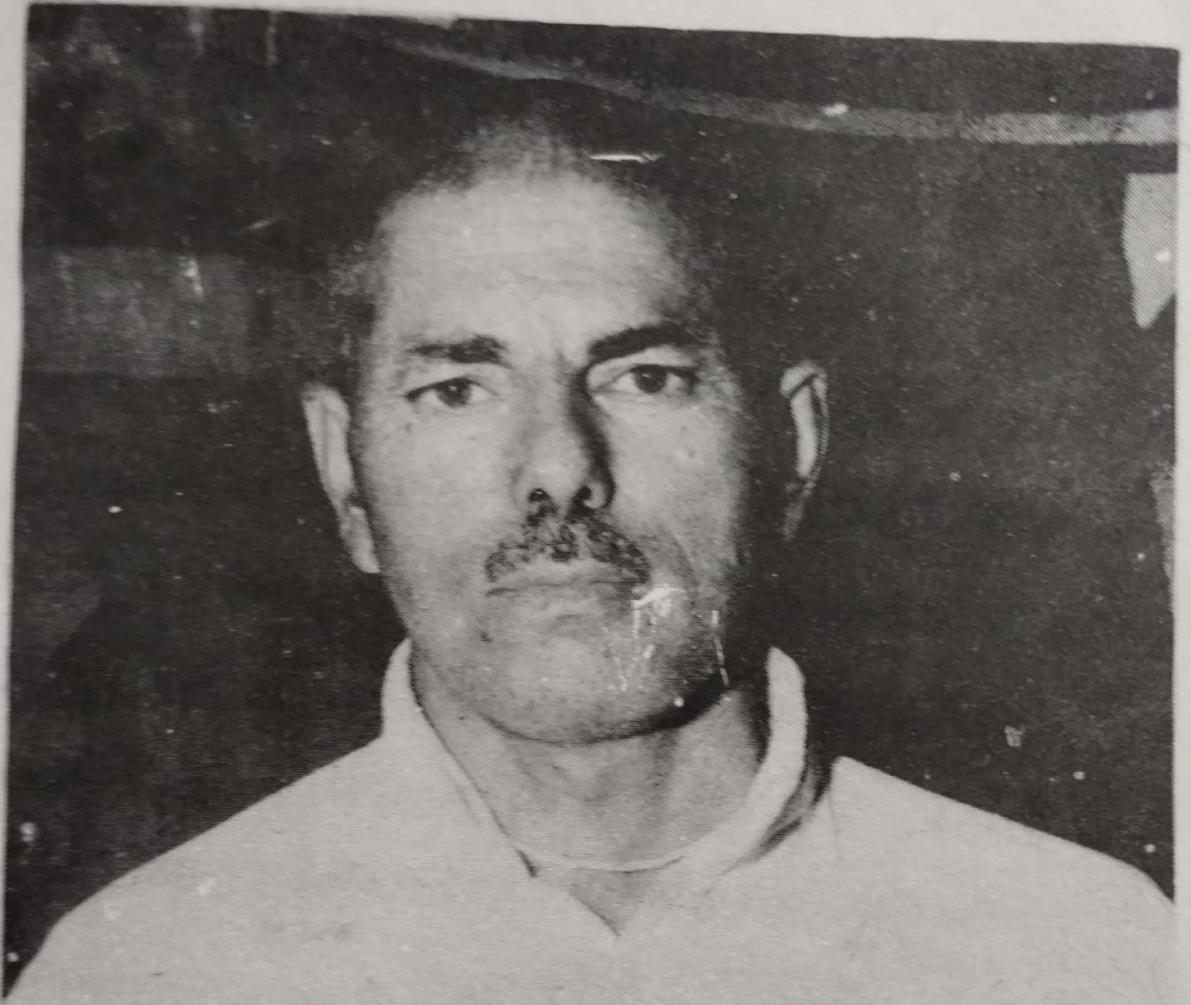
श्री महाशय देवकराम जी आर्य, बूधवा, भिवानी

भूमिका

दोहा

सांख्यनिरीश्वरवाद में, वहुविधभयो अध्यास ।
ता अध्यास निरासहित, रचयो आरयभाष्य ॥ १ ॥

ब्रह्मसूत्र के भाष्य में, शङ्कर कियो विचार ।
सांख्य निरीश्वरवाद है, वर्ण्यो बहुत प्रकार ॥ २ ॥

सांख्य वखान्यो कपिल ने, सो भगवत अवतार ।
कैसे खण्डन सो कियो, मोको करो उचार ॥ ३ ॥

पाद पांच के भाष्य में, इस शंका को मूल ।
श्रीशङ्कर ने काटिया, मान वेद अनुकूल ॥ ४ ॥

कपिल जो कर्त्ता सांख्य को, सो भगवत ते आन ।
ईश निवारण तिन कियो, हेतु परम यह जान ॥५॥

रामानुज ने भी लिखा, सांख्य निरास प्रकार ।
यही भाव सब में भरा, पढ़लो ग्रन्थ हज़ार ॥ ६ ॥

कोविद यूरपदेश जो, उनका यही विवेक ।
किस२ की गणना करें, भूले लोग अनेक ॥ ७ ॥

इस चर्चा को लक्ष्यधर, वैदिक मति अनुसार ।
आरयमुनि ने वर्णियां, सांख्यशास्त्र को सार ॥८॥

इस बात को प्रायः सब शास्त्ररसिक भलेप्रकार जानते हैं कि **सांख्यशास्त्र** प्रकृतिपुरुष के तत्त्व को वर्णन करता है और प्रकृति के तीनों गुणों के बन्धन से निर्मुक्त होने के लिये इस शास्त्र में जो प्रकार प्रतिपादन कियेगए हैं वह अन्यशास्त्रों में नहीं।

इस शास्त्र के कर्त्ता का महत्व श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णन किया है कि महर्षिकपिल बड़ा विज्ञानी था, इस लेख से सांख्य-शास्त्र के सिद्धान्त की उच्चता और प्राचीनता पाईजाती है।

यहां यह निरूपण करना प्रकरणानुसार नहीं कि किस समय कौन २ शास्त्रबना, प्रकृत यह है कि उक्त महर्षिकपिल का ज्ञान-भाण्डारशास्त्र इस निन्दित दृष्टि से क्यों देखागया जैसाकि हम ऊपर दोहों में वर्णन कर आए हैं।

स्वामीशङ्कराचार्य्य इसशास्त्र को वेदविरुद्ध मानते हैं जैसाकि "**अतश्चात्मभेदकल्पनयापि कापिलस्यतन्त्रस्य वेद-विरुद्धत्वं वेदानुसारिमनुवचन विरुद्धत्वञ्च**" ब्र० सू०२। १।१ शं० भा०, इत्यादि भाष्य में लिखा है कि आत्मा के भेद मानने की कल्पना से भी कापिल का शास्त्र बेदविरुद्ध है तथा वेदा-नुसारी मनुवचन के भी विरुद्ध है।

ठीक है "**पुरुषबहुत्वंव्यवस्थातः**" सां०६। ४९ = व्यव-स्था पाएजाने से पुरुष नाना हैं, एवंविध चेतन के भेद मानने से अद्वैतवादी स्वामी को यह शास्त्र वेदविरुद्ध प्रतीत होता है, हो,पर कापिल को अनीश्वरवादी मानकर जो उक्त स्वामी ने इस शास्त्र का खण्डन किया है यह ठीक नहीं क्योंकि उक्तसूत्र से यह पायाजाता है कि पुरुषों के बहुत मानने से ही पुण्य पाप की व्यवस्था बन

सकती है अन्यथा नहीं, क्या ईश्वररूपी पुरुष मानने से विना कभी पुण्य पाप की व्यवस्था बनसकती है कदापि नहीं, फिर सांख्य अनीश्वरवाद का दर्शन कैसे ?

इस भूल में पड़ने का कारण यह प्रतीत होता है कि बहुत से लोग तो सूत्रों के तत्त्व को नहीं जानते क्योंकि सूत्र का अर्थ सूचनामात्र देना है, सूत्रों में आद्योपान्त विषय का विवरण नहीं होता इसीलिये लोग "ईश्वरासिद्धेः" आदि सूत्रों के आदिअन्त को न समझ भूल में पड़कर सांख्यशास्त्र को अनीश्वरवाद का दर्शन कहदेते हैं ।

स्वामी शं०चा०जी तो प्रकृति की उपादानकारणता और जीव के नाना मानने से इस शास्त्र को वेदविरुद्ध कथन करते हैं क्योंकि प्रकृति की उपादानकारणता और जीवों के नाना मानने से मायावाद सर्वथा खण्डन होजाता है इसलिये उनको सांख्य से विरोध करना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं ।

और रामानुज विशिष्टाद्वैत के अभिप्राय से जीव, ईश्वर, प्रकृति को एक मानते हैं, फिर प्रकृति उपादानकारणवाद का कैसे सत्कार कर सकते थे इसी अभिप्राय से "प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्ताऽनुपरोधात्" ब्र०सू० १।४।२३ के भाष्य में स्वामी रामानुज ने भी शङ्कर मत का अवलम्बन किया है अर्थात् ब्रह्म को ही प्रकृति मानकर उपादानकारण माना है और सांख्य के प्रकृतिवाद का बलपूर्वक खण्डन किया है, इसप्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैतमतानुयायी लोग सांख्यशास्त्र से विरुद्ध हैं ।

और यूरोप के विद्वान् प्रायः इन्हीं का अनुकरण करते हैं वह स्वतन्त्रप्रज्ञ नहीं, उनके लेख का निराकरण ही क्या ! हां इतना

अवश्य कहेंगे कि उनमें से जिनका यह अभिप्राय है कि सांख्य फ़िलासफ़ी हरबर्टस्पैंसर (Herbert Spencer) से मिलती है, वह सांख्य के तत्त्व को गन्धमात्र भी नहीं जानते क्योंकि (Herbert Spencer) के सिद्धान्त में मैटर Matter से भिन्न आत्मा का कोई अस्तीत्व नहीं, और सांख्य अनेकस्थलों में मैटिरियलिस्टों Materialists का खण्डन करता है और पुण्य पाप की व्यवस्था का बलपूर्वक मण्डन करता है तथा भूतों की चेतनता का स्पष्ट निषेध करता है जैसाकि "नभूतचैतन्यंप्रत्येकादृष्टेसांहत्येऽपि च सांहत्येऽपिच" सां० ५।१२९ = एक २ भूत में चेतनता न होनेके कारण उनकी मिलावट में भी चेतनता नहीं है, यह सांख्य की प्रतिज्ञा है। और आत्मप्रत्यय में संयम करने से यह बात समझ में भी आती है कि जब बुद्धिसत्त्व का तादात्म्याध्यास मिटजाता है अर्थात् जब प्रकृति के सत्त्वप्रधानज्ञान से पुरुष अपने आपको भिन्न समझलेता है तब इस विषय को समझसकता है अन्यथा नहीं।

क्या सर्व साधारण पुरुषों को यह दृश्य दृष्टि नहीं पड़ता कि जब प्रायःशारीरिक शक्तियें घटजाती हैं और मस्तिष्क भी उन पदार्थों का भाण्डार नहीं रहता जिनको प्रकृतिवादी ज्ञान का आगार कहते हैं, जब ऐसी अवस्था राजयक्ष्मादि रोगों में पुरुष की होजाती है तब भी आत्मा ज्यों का त्यों दीप्तिमान् रहता है प्रत्युत उक्त दशावाले पुरुष की स्मृति आगे से प्रबल होजाती है तो फिर कैसे कहा जासकता है कि आत्मा प्रकृति से भिन्न पदार्थ नहीं। एवं कईएक व्यथा जन्य दोष तथा आत्मसंयम से पुरुष में ऐसा बल बढ़जाता है जो उसके शरीर में प्रथम नहीं होता फिर वह बिना आत्मिकबल के और क्या समझाजाय।

जितना २ प्रकृति का गुणाधिकार समाप्त होताजाता है उतनी२ ही आत्मा की शक्ति अधिक बढ़ती जाती है जैसाकि जिन पुरुषों के मस्तिष्क में प्रकृति का बोझ अधिक बढ़ जाता है वह स्वप्नावस्था में उतने चेतन नहीं रहते जितने सूक्ष्म प्रकृति वाले रहते हैं और यही कारण है कि जिनका विशालआकार तथा जिनमें बल अधिक होता है उनमें प्रायः उस आकार के समान आत्मिक बल नहीं होता, इस से पाया जाता है कि आत्मा प्रकृति का परिणाम नहीं।

और जिन भयानक रोगों में लोग उसको ज्ञाता नहीं मानते प्रत्युत मूर्च्छित समझते हैं वह उस समय भी साक्षी होकर देखता है और अपने भावों को प्रकाश करना चाहता है पर अदृष्टजन्य प्रकृति के बन्धन से प्रकाश नहीं कर सक्ता उस अवस्था में भी उसका अस्तित्व तथा साक्षित्व ज्यों का त्यों बना रहता है।

इसी प्राकृत बन्धन से पृथक् बोधन करने के लिये छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठम प्रपाठक में उद्दालक ने श्वेतकेतु को व्रतों से शिथिल करके **ऐतदात्म्यमिदंसर्वं** = यह उस आत्मा के ज्ञानादिभाव हैं, हे श्वेतकेतो वह तू है, इस प्रकार आत्मा का उपदेश किया है। योगशास्त्र में आत्मसाक्षात्कार के अनेक साधन कथन किये हैं उनको यहां उद्धृत करने से ग्रन्थ बढ़ता है, भाव यह है कि जब सांख्यशास्त्र आत्मा का अस्तित्व प्रकृति से भिन्न मानता है तो फिर हरबर्टस्पैंसर का साथी कैसे?

अब विचारणीय यह है कि ईश्वर विषय में सांख्य की क्या सम्मति है? यद्यपि भारतीय तथा यूरोपनिवासी कईएक प्रसिद्ध विद्वानों का मत यह है कि सांख्य अनीश्वरवादी है परन्तु हम दृढ़तापूर्वक कहसक्ते हैं कि इसदर्शन में अनीश्वरवाद का गंधमात्र भी नहीं पाया जाता। कारण यह है :-

१–सांख्यदर्शन में ध्यानादि साधनों का अनुष्ठान करना पाया जाता है जो किसी नास्तिक दर्शन में नहीं।

२–इसी दर्शन में इन्द्र और विरोचन की कथा से आस्तिकभाव इस प्रकार सिद्ध किया है कि इन्द्र आस्तिक को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई और विरोचन नास्तिक को नहीं।

३–पांचवें अध्याय में शुभकर्मों का फल माना है और इस विषय में वेद का प्रमाण भी दिया है।

४–वेदों को ईश्वरीय और नित्य मानकर अनेक सूत्रों में वेदों के प्रमाण दिये हैं।

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि सांख्यशास्त्रकार परमआस्तिक थे। यदि नास्तिक होते तो अन्य नास्तिकों के समान वेद को कदापि प्रमाण न मानते और धारणा, ध्यानादि संस्कारों से आत्मा की सद्गति कभी वर्णन न करते, एवंविध विचार करने से ज्ञात होता है कि सांख्य ईश्वरवाद का दर्शन है।

इस विषय को हम **"ईश्वरासिद्धेः"** **"समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता"** इत्यादि सूत्रों में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं इसलिये यहां विस्तार नहीं करते केवल युक्ति से ईश्वर की सिद्धि निरूपण करते हैं :–

ईश्वर जिसको **"व्यावृत्तोभयरूपः"** सां० १।१६०, इत्यादि सूत्रों में जीव और प्रकृति से भिन्न माना है उसकी सिद्धि इस जगत की चराचर रचना से होती है, महर्षिव्यास ने इस विषय में सब से प्रबल प्रमाण रचना का माना है कि उस परमात्मा से बिना यह विचित्र रचना कदापि सिद्ध नहीं होसक्ती क्योंकि इसकी विचित्रता के तत्त्व का ज्ञाता वही है।

यह नियम देखा जाता है कि कोई रचना बिना ज्ञाता से नहीं होसक्ती और न कोई क्रिया बिना कर्त्ता से होती है, जब इस निखिलब्रह्माण्ड में प्रतिक्षण क्रिया होती है तो यह क्रिया बिना कर्त्ता के कैसे ? नास्तिलोग इसका उत्तर यह देते हैं कि यह क्रिया स्वाभाविक है, जिसके अर्थ यह होते हैं कि यह क्रिया प्रकृति के स्व=अपने, भाव से है, पर जब यह पूछा जाता है कि प्रकृति के भाव क्या हैं ? और वह प्रकृति के अधीन हैं अथवा स्वाधीन हैं ? इसका उत्तर यही मिलता है कि इसको कौन कहसक्ता है। सत्य है जब इसको कोई नहीं कहसक्ता तो इसको कौन कहसक्ता है कि क्रिया प्रकृति का भाव है क्योंकि क्रिया जड़का भाव स्वयं नहीं, किन्तु चेतनाधीन है जैसाकि जीवित शरीर में क्रिया देखी जाती है मृत में नहीं, इससे अनुमान होता है कि प्रकृति की क्रियायें किसी कर्त्ता के अधीन हैं स्वतः नहीं क्योंकि जब क्षुद्रशरीर में स्वतः क्रिया नहीं होती तो अतिवृहत्ब्रह्माण्डशरीर में कैसे ? सांख्य-शास्त्रकार ने इसकी सिद्धि में एक युक्ति दी है जिससे बढ़कर ईश्वर की सिद्धि में अन्य युक्ति नहीं होसक्ती वह यह है कि जिस प्रकार धेनु अपने वत्स=बछड़े के लिये स्तनों से दूध स्रवित करती है इसी प्रकार प्रकृति में क्रिया होती है।

नास्तिक पुरुष को तो यहां यह प्रतीत होता है कि इस दृष्टान्त से तो जड़ प्रकृति में क्रिया सिद्ध होती है, पर ऐसा नहीं क्योंकि यदि यह दृष्टान्त जड़ में क्रिया को सिद्ध करता तो मृत गौ के शरीर से भी दूध स्रवित होना चाहिये था परन्तु ऐसा न होने से पाया जाता है कि चेतनविशिष्ट गौका शरीर क्रिया का हेतु है केवल नहीं, एवं केवल प्रकृति क्रिया का हेतु नहीं किन्तु चेतनवि-शिष्ट प्रकृति ही क्रिया का हेतु है।

इस से सिद्ध हुआ कि प्रकृतिरूपी धेनु के शरीरावच्छिन्न चेतन इस रचना का रचिता है जिसकी सत्तास्फुरति से एकक्षण में उत्पत्ति और प्रलय होसक्ती है, जिसकी भयंकर क्रिया से कोटान-कोटि ब्रह्माण्ड एक क्षण में भस्म होजाते हैं और जिसकी उत्पत्ति-रूपी क्रिया से कोटानकोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, उस दिव्यवि-मल ज्योति को कौन दबा वा छिपा सक्ता है, नास्तिक और आ-स्तिक सब उसके नियमों में नियन्त्रित होकर उस पूर्ण पुरुष को सिर झुका रहे हैं।

जैसाकि गीता अ० ११ में यह वर्णन किया है कि जिस प्रकार नदियों के बड़े २ प्रवाह समुद्र की ओर अहर्निश बहे जारहे हैं और जिस प्रकार प्रदीप्त प्रदीप में उसकी ज्योति से आकर्षित हुए पतङ्ग अपने प्रिय प्राणों के हवन करने के लिये उस प्रदीप की ओर जा-रहे हैं इसी प्रकार प्राणीमात्र उसकी गुणमयी प्रकृतिरूपी रज्जु में बंधे हुए अहर्निश खिंचे जारहे हैं।

फिर कौन कह सक्ता है कि वह सूर्य्य चन्द्रादि विशाल नेत्रों वाला परमात्मा जिसका सिर नभोमण्डल से स्पर्श कर रहा है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वायु जिसका प्राणस्थानी बन रहा है और आकाश जिसके विशालोदर की शोभा देरहा है और दशोदिशायें जिसके श्रोत्रस्थानी बन रही हैं, इत्यादि अलंकारों से अलंकृत सर्व-भूतान्तरात्मा परमात्मा नहीं है।

हां यह ठीक है कि उसके देखने के लिये दिव्य नेत्रों की आवश्यकता है, उसके सुनने के लिये शुभ्रश्रोत्रों की आवश्यकता है, उसके मनन करने के लिये साधनसम्पन्न मन की आवश्यकता है और दृढ़ विश्वास की आवश्यकता है, अन्यथा उसका जानना दुर्घट है।

इसीलिये उपनिषद्कारों ने कहा है कि "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" कठ० ६।१३ = वह है और ढूंढो, उक्त सत्ता सम्पन्न महा प्रभु से केवल मायारूप मोह से मदान्धजन विमुख हैं, ऐसे महाप्रभु को महर्षिकापिल कब भूल सक्ताथा "ईश्वराधिष्ठितेफलनिष्पत्तिः" सां०५।२, "स हि सर्ववित्सर्वकर्त्ता" सां ३।५६, इत्यादि सूत्रों में महर्षि कपिल ने परमात्मा को सबका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, मानकर पुण्य पाप की व्यवस्था की है। अधिक क्या यदि सांख्य शास्त्र का तत्त्व पूर्वोत्तर सूत्रों की सङ्गति मिलाकर देखा जाय तो परम आस्तिकभाव उत्पन्न होता है, इसलिये हमने सङ्गति सहित सबसूत्रों की इस आर्य्यभाष्य में व्याख्या की है जिसको पढ़कर पाठक स्वयं जान सक्ते हैं, यहां अनेक स्थलों के उद्धृत करने से ग्रन्थ बढ़ता है इसलिये हम सांख्य के सार वर्णन में एक सवैया लिखकर लेख को समाप्त करते हैं॥

॥ सवैया ॥

धेनु समान प्रधान कयी मुत सोऽध्य निमित्त चरै वह छीरा।
हैमवती जिमि गंग बहै शुभ कंदर तें निकसे बहुनीरा॥
चीर सुनीरनिमित्त वही जिसको श्रुति पुंज रटै बलबीरा।
सांख्यअधारमहाप्रभुसोजिसकीगतिकोकोउजानतधीरा॥

आर्य्यमुनिः

सांख्यार्य्यभाष्य की विषयसूची

ओ३म्

अथ सांख्यार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

सङ्गति–महर्षि कपिलाचार्य्यपरम पुरुषार्थ के साधन प्रकृति पुरुष विवेक का विस्तारपूर्वक उपदेश करने के लिये सांख्यशास्त्र का आरम्भ करते हुए प्रथम परमपुरुषार्थ के स्वरूप को दिखाते हैं:—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः। १।

पद०–अथ। त्रिविधदुःख्यात्यन्तनिवृत्तिः। अत्यन्त पुरुषार्थः।

पदा०–(अथ) इस शास्त्र में (त्रिविधदुःखात्यन्तानिवृत्तिः) तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति को (अत्यन्तपुरुषार्थः) परम पुरुषार्थ कहते हैं।

भाष्य–आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, इस भेद से दुःख तीन प्रकार का है। जो दुःख ज्वरादि रोगों तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, आदि दोषों के सम्बन्ध से होता है उसका नाम "**आध्यात्मिक**" और जो चोर, व्याघ्रादि प्राणियों के सम्बन्ध से होता है उसका नाम "**आधिभौतिक**" और जो विद्युत, अग्नि, जल, वायु, आदि दिव्य पदार्थों के सम्बन्ध से होता है उसको "**आधिदैविक**" कहते हैं। जिसकी पुरुष अभिलाषा करे उसका नाम पुरुषार्थ है और वह गौण तथा मुख्य भेद से दो प्रकार का

है । सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति को गौण और उक्त दुःखों की अत्यन्तनिवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति को मुख्य पुरुषार्थ कहते हैं, सांख्यशास्त्र की परिभाषा में गौण पुरुषार्थ का नाम भोग और मुख्य पुरुषार्थ का नाम अपवर्ग = मोक्ष है, मुख्यपुरुषार्थ, परम-पुरुषार्थ तथा मोक्ष, यह सब पर्यायवाची शब्द हैं ।

जब पुरुष को सांख्यशास्त्रोक्त साधनों के अनुष्ठानद्वारा प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों से अतिरिक्त अपने आत्मा का साक्षात्कार होता है जिसको सांख्यशास्त्र में प्रकृति पुरुष विवेक अथवा सत्त्वपुरुषा-न्यताख्याति वा विवेकज्ञान कहते हैं तब इसको दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति होती है ।

जिसका अपने कल्प में अन्त न हो ऐसी चिरस्थायी निवृत्ति का नाम अत्यन्त निवृत्ति है । इस परम पुरुषार्थ में परमानन्द की प्राप्ति विवेकज्ञान साध्य नहीं किन्तु दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के अनन्तर अवश्यंभावी होने से स्वयं प्राप्य है केवल दुःखात्यन्तनिवृत्ति ही विवेकज्ञान साध्य है । इसी अभिप्राय से आचार्य्य ने त्रिविधदुःखा-त्यन्तनिवृत्ति को ही अत्यन्त पुरुषार्थ कथन किया है ।

और जो आधुनिक टीकाकार इस सूत्र के आधार से केवल दुःखात्यन्तनिवृत्ति ही को सांख्यशास्त्र में परमपुरुषार्थ कथन करते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो वैदिकसिद्धान्त में केवल दुःखा-त्यन्तनिवृत्ति को कहीं भी परमपुरुषार्थ नहीं माना और दूसरे "सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्नद्वैविध्यात्" सां० ६।९ इस सूत्र में यह कथन किया है कि यदि मोक्षावस्था में परमा-नन्द की प्राप्ति स्वीकार न कीजाय तो केवल दुःखात्यन्तनिवृत्ति

परमपुरुषार्थ नहीं होसक्ती । अतएव सांख्यसिद्धान्त में दुःखात्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही परमपुरुषार्थ है और यदि दुःखात्यन्त निवृत्ति ही को परमपुरुषार्थ मानाजाय तो प्रथम सूत्र का उक्त सूत्र के साथ विरोध आता है, इसलिये उक्त अभिप्राय से सूत्र में त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ कथन किया है।

यहां यह भी जानना आवश्यक है कि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेषादिक जितने गुण हैं वह सब सांख्यसिद्धान्त में बुद्धि के धर्म्म हैं, जीवात्मा के नहीं, क्योंकि चेतनस्वरूप तथा कूटस्थ नित्य होने के कारण इसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता किन्तु बुद्धि में इसका प्रतिबिम्ब पड़ने से बुद्धि के सम्पूर्ण धर्म प्रतिबिम्ब में आरूढ़ होजाते हैं और पुरुष प्रतिविम्ब में आरूढ़ हुए धर्मों को विवेकग्रह न होने के कारण निजधर्म मानकर मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इस प्रकार अभिमान करलेता है जैसाकि "**परधर्मत्वेऽपितत्सिद्धिरविवेकात्**" सां० ६ । ११ और "**जवास्फटिकयोरिवनोपरागःकिन्त्वभिमानः**" सां० ६ । २८ इन सूत्रों में स्वयं आचार्य्य ने वर्णन किया है कि पुरुष में बुद्धि के धर्म दुःखादिक अविवेक से प्रतीत होते हैं उस में उनका सम्बन्ध स्फटिक में जवापुष्प के सन्निधान से रक्तता की भांति नहीं किन्तु अभिमान मात्र है।

इस से स्पष्ट पाया जाता है कि पुरुष में स्वभाव से दुःखादिधर्म नहीं किन्तु अविवेक से हैं और वह अतीत, वर्त्तमान तथा अनागत भेद से तीन प्रकार के हैं, जिनमें अतीत दुःख स्वयं निवृत्त होगए हैं उनकी निवृत्ति आवश्यक नहीं, और वर्त्तमान भोगावस्था को प्राप्त

हैं वह भोग से स्वयं निवृत्त हो जावेंगे, परिशेष से अनागत दुःख ही मुमुक्षुओं को निवर्त्तनीय हैं जैसाकि "हेयंदुःखमनागतम्" यो० २।१६ इस सूत्र में कहा है कि अनागत दुःख ही त्याग करने योग्य हैं। और इनकी निवृत्ति विवेकज्ञान के आधीन है अतएव दुःखात्यन्तनिवृत्ति के अभिलाषियों को विवेकज्ञान की प्राप्ति के लिये सांख्यशास्त्र का अभ्यास करना आवश्यक है।

सं०—ननु, उक्त दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति औषधादि उपायों द्वारा होसक्ती है फिर विवेकज्ञान की क्या आवश्यकता है ? उत्तरः-

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति-दर्शनात्।२।

पद०—न। दृष्टात्। तत्सिद्धिः। निवृत्ते। अपि। अनुवृत्ति-दर्शनात्।

पदा०—(दृष्टात्) औषधादि उपायों द्वारा (तत्सिद्धिः) दुःखात्यन्त निवृत्ति की सिद्धि (न) नहीं होसक्ती, क्योंकि (निवृत्ते, अपि) उक्त उपायों से निवृत्त हुए दुःख (अनुवृत्तिदर्शनात्) कालान्तर में फिर उत्पन्न होजाते हैं।

भाष्य—जो अत्यन्त निवृत्त होजाता है वह फिर उत्पन्न नहीं हो सक्ता, परन्तु औषधादि उपायों से निवृत्त हुए दुःखों की पुनः उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिये एकमात्र विवेकज्ञान ही उनकी अत्यन्तनिवृत्ति का सम्यग् उपाय है औषधादि नहीं।

सं०—ननु, यदि औषधादि उपायों द्वारा दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होसक्ती तो पुरुष को उनकी निवृत्ति के लिये औषधादि की अभिलाषा क्यों होती है ? उत्तरः—

प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत्तत्प्रतीकार-चेष्टनात्पुरुषार्थत्वम् । ३ ।

पद०-प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत् । तत्प्रतीकारचेष्टनात् । पुरुषार्थत्वम् ।

पदा०-(प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत्) जैसे प्रतिदिन भोजनादि से क्षुधा की निवृत्ति होती है, इसी प्रकार औषधादि द्वारा (तत्प्रतीकारचेष्टनात्) उक्त दुःखों की निवृत्ति होजाती है, इसलिये (पुरुषार्थत्वम्) औषधादि उपायों की पुरुष अभिलाषा करता है ।

भाष्य-जैसे भोजनादिक क्षुधानिवृत्ति के उपाय हैं इसी प्रकार औषधादिक भी दुःख निवृत्ति का उपाय हैं, इसलिये पुरुष को उन की अभिलाषा होती है ।

सं०-ननु, जब औषधादि उपायों से दुःख की निवृत्ति होजाती है तो फिर वह उपाय विवेकी पुरुषों को त्याज्य क्यों हैं ? उत्तरः—

सर्वासंभवात् संभवेऽपि सत्तासंभवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः । ४ ।

पद०-सर्वासंभवात् । संभवे । अपि । सत्तासंभवात् । हेयः । प्रमाणकुशलैः ।

पदा०-(सर्वासंभवात्) औषधादि उपायोंद्वारा सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति होना असम्भव है, और (संभवे, अपि) कथांचित् संभव होने पर भी (सत्तासंभवात्) सूक्ष्मरूप से उनका बना रहना संभव है, इसलिये (प्रमाणकुशलैः) विवेकी पुरुषों को (हेयः) वह उपाय त्याज्य हैं ।

भाष्य-प्रथम तो औषधादि उपायों से सम्पूर्ण दुखों की निवृत्ति नहीं होसकती और यदि दैवयोग से हो भी जाय तो अत्यन्त निवृत्ति होना असम्भव है क्योंकि अत्यन्त निवृत्त हुआ पदार्थ फिर उत्पन्न नहीं होसक्ता परन्तु उक्त उपायों से निवृत्त हुए दुःख फिर उत्पन्न होजाते हैं, अतएव दुखात्यन्तनिवृत्ति के लिये विवेकी पुरुषों को वह उपादेय नहीं किन्तु त्याज्य हैं ।

सं०-अब लोकप्रसिद्ध औषधादि उपायों के त्याज्य होने में अन्य हेतु कहते हैं :-

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ।५।

पद०-उत्कर्षात् । अपि । मोक्षस्य । सर्वोत्कर्षश्रुतेः ।

पदा०-(मोक्षस्य) परमपुरुषार्थ की (उत्कर्षात्) विवेकज्ञानसे (अपि) ही सिद्धि होती है और वह लौकिक उपाय से होनेवाली दुःख निवृत्ति की अपेक्षा (सर्वोत्कर्षश्रुतेः) श्रेष्ठ है ।

भाष्य-लौकिक उपायों से जो दुःखों की निवृत्ति होती है वह चिरस्थायी नहीं होती और विवेकज्ञान से जो दुखोंकी निवृत्ति होती है वह चिरस्थायी होती है अतएव उसके लिये विवेकी पुरुषों को लौकिक उपाय उपादेय नहीं किन्तु त्याज्य हैं ।

सं०-ननु, लोकसिद्ध औषधादि उपायों से दुःखात्यन्त निवृत्ति न हो, वेदविहित कर्मों से होजायगी, विवेकज्ञान की कोई आवश्यक्ता नहीं ? उत्तर :-

अविशेषश्चोभयोः । ६ ।

पद०-अविशेषः । च । उभयोः ।

पदा०-(उभयोः) लोकसिद्ध तथा वेदहितकर्म, यह दोनों (च) ही (अविशेपः) समान हैं ।

भाष्य-जैसे लोकसिद्ध औषधादि उपायों से दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती इसी प्रकार वेदविहित यज्ञादि कर्मों से भी नहीं हो सकती. क्योंकि यह दोनों उपाय दुःखों के मूलकारण अविवेक को निवृत्त नहीं कर सकते और उसके निवृत्त न होने से उनकी अत्यन्त-निवृत्ति का होना असम्भव है इसलिये लोकसिद्ध औषधादि की भांति केवल वैदिककर्म भी दुःखात्यन्तनिवृत्ति का उपाय नहीं ।

यहां इतना विशेष जानना आवश्यक है कि जो वैदिक कर्मोंको दुखों की अत्यन्त निवृत्ति का अनुपाय कथन किया है वह विवेकज्ञान के न होने के अभिप्राय से है क्योंकि वैदिकसिद्धान्त में विवेकज्ञान तथा वेदविहितकर्म, यह दोनों ही परमपुरुषार्थ के साधन हैं, पृथक् २ नहीं ।

सं०-पूर्व सूत्रों में लोकसिद्ध औषधादिक उपाय तथा वेदोक्त कर्मों को मोक्ष का अनुपाय कथन करके, अब विवेकज्ञान को उसका उपाय कथन करने के लिये प्रथम बन्ध के स्वाभाविक होने का निषेध करते हैं :-

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेश-विधिः । ७ ।

पद०- न । स्वभावतः । बद्धस्य । मोक्षसाधनोपदेशविधिः ।

पदा०-(स्वभावतः) स्वभाव से (बद्धस्य) दुःख सम्बन्ध वाला पुरुष (मोक्षसाधनोपदेशविधिः) शास्त्रोक्तमोक्ष के साधनों का अनुष्ठान (न) नहीं करसक्ता ।

भाष्य–त्रिविध दुःख सम्बन्ध का नाम "बन्ध" है, यदि वह स्वाभाविक हो तो शास्त्रोक्त मोक्ष के उपाय विवेकज्ञान के अनुष्ठान में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होसक्ती, क्योंकि यह नियम है कि जो वस्तु अपने प्रयत्नसाध्य तथा सुख का साधन होती है उसी के सम्पादन करने में पुरुष प्रवृत्त होता है और दुःख सम्बन्धरूप बन्ध का स्वाभाविक होने के कारण विवेकज्ञान से निवृत्त होना असम्भव है, अतएव उसको स्वाभाविक मानना ठीक नहीं।

सं०–ननु, शास्त्रोक्त साधनों का अनुष्ठान न होने से क्या हानि? उत्तरः—

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षण-मप्रामाण्यम् ।८।

पद०–स्वभावस्य । अनपायित्वात् । अननुष्ठानलक्षणम् । अप्रामाण्यम् ।

पदा०–(स्वभावस्य) स्वभावभूत वस्तु की (अनपायित्वात्) निवृत्ति का असम्भव होने से (अननुष्ठानलक्षणम्) निवृत्ति का बोधक शास्त्र (अप्रामाण्यम्) अप्रमाणिक होजाता है।

भाष्य–पुरुष उसी उपाय का अनुष्ठान करता है जिसका फल प्राप्त होता है और जिसका फल प्राप्त नहीं होता उसका कदापि अनुष्ठान नहीं करता और न उसके प्रतिपादक शास्त्र को प्रमाणिक मानता है क्योंकि उसने असम्भव अर्थ का उपदेश किया है। यदि बन्ध को भी स्वाभाविक माना जाय तो वह कदापि निवृत्त नहीं हो सक्ती अतएव उसकी निवृत्ति के लिये शास्त्रोक्त साधनों का अनुष्ठान भी व्यर्थ है और अनुष्ठान के न होने से वञ्चक पुरुष के वचन

की भांति शास्त्र के प्रामाण्य की हानि होती है जिस से वह त्याज्य होजाता है, इसलिये बन्ध को स्वाभाविक मानना ठीक नहीं।

सं०—ननु, शास्त्र के बल से साधनों का अनुष्ठान होजायगा, फिर अप्रामाण्य कैसे? उत्तरः—

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः।९।

पद०—न। अशक्योपदेशविधिः। उपदिष्टे। अपि। अनुपदेशः।

पदा०—(अशक्योपदेशविधिः) असम्भव फल के लिये शास्त्रोक्त साधनों का अनुष्ठान (न) शास्त्र के बल से भी नहीं होसक्ता, क्योंकि (उपदिष्टे, अपि) वह शास्त्रोपदेश (अनुपदेशः) वस्तुतः उपदेश नहीं किन्तु उपदेशाभास है।

भाष्य—जब यह नियम है कि जो वस्तु स्वाभाविक होती है वह कदापि निवृत्त नहीं होसक्ती तो फिर उसकी निवृत्ति के लिये शास्त्र का उपदेश व्यर्थ है। इसलिये शास्त्रबल से भी अनुष्ठान नहीं होसक्ता।

सं०—अब यह आशङ्का करते हैं कि स्वाभाविक बन्ध मानने पर भी उसकी निवृत्ति होसक्ती है:—

शुक्लपटवद्बीजवच्चेत्।१०।

पद०—शुक्लपटवत्। बीजवत्। च। चेत्।

पदा०—(शुक्लपटवत्) जैसे शुक्लवस्त्र की स्वाभाविक शुक्लता रङ्ग से (च) और (बीजवत्) बीज की स्वाभाविक अंकुरजननशक्ति अग्नि से निवृत्त होजाती है, इसी प्रकार स्वाभाविक बन्ध भी शास्त्रीय उपदेश से निवृत्त होजायगी (चेत्) यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं। इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य–जो वस्तु स्वाभाविक होती है उसकी निवृत्ति नहीं होती यह नियम ठीक नहीं, क्योंकि रङ्ग से वस्त्र की स्वाभाविक शुक्लता तथा अग्नि से बीज की स्वाभाविक अंकुरजननशक्ति निवृत्त होजाती है, इसलिये जीवात्मा को स्वाभाविक वन्ध मानने में कोई बाधा नहीं।

सं०–अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:—

शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः।११।

पद०–शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां। न। अशक्योपदेशः।

पदा०–(अशक्योपदेशः) उक्त दोनों उदाहरणों से स्वाभाविक वस्तु की निवृत्ति (न) नहीं पाई जाती, क्योंकि (शक्त्युद्भवा नुद्भवाभ्यां) उक्त दोनों उदाहरणों में शुक्लता तथा अंकुरजननशक्ति का तिरोभाव मात्र है निवृत्ति नहीं।

भाष्य–वस्त्र और बीज में शुक्लता तथा अंकुरजननशक्ति की निवृत्ति नहीं होती किन्तु तिरोभाव* मात्र होता है। यदि निवृत्ति होती तो क्षार आदि के सम्बन्ध से शुक्लता तथा अंकुरजननशक्ति का पुनः प्रादुर्भाव† नहीं होना चाहिये, क्योंकि जो वस्तु निवृत्त होजाती है फिर उसका प्रादुर्भाव नहीं होता, इसलिये जो स्वाभाविक वस्तु है उसकी निवृत्ति नहीं होती यह नियम है, अतएव बन्ध का स्वाभाविक मानना ठीक नहीं।

सं०–ननु, स्वभाव से पुरुष को बन्ध न हो, काल तथा दिशा के सम्बन्ध से होजायगी? उत्तरः—

---

* अभिभव तथा दबजाना।

† प्रकट होना।

नकालयोगतोऽव्यापिनोनित्यस्यसर्वसम्बन्धात् । १२ ।

पद०—न । कालयोगतः । व्यापिनः । नित्यस्य । सर्वसम्बन्धात् ।

पदा०—(कालयोगतः) काल के सम्बन्ध से (न) बन्ध नहीं होसक्ती क्योंकि (नित्यस्य) नित्य, तथा (व्यापिनः) सर्वत्र परिपूर्ण होने के कारण उसका (सर्वसम्बन्धात) मुक्त, बद्ध सब पुरुषों के साथ समान सम्बन्ध है ।

भाष्य—कालवादी का यह मत है कि काल अचिन्त्यशक्ति पदार्थ है और उसके सम्बन्ध से वसन्तादि षड्ऋतु की भांति पुरुष को बन्ध होती है । यह ठीक नहीं, क्योंकि कालवादी ने काल को नित्य तथा सर्वव्यापक माना है यदि उसके सम्बन्ध से बन्ध का होना मानाजाय तो संसार में कोई भी मुक्त नहीं होसक्ता क्योंकि व्यापक होने के कारण सब पुरुषों के साथ उसका समान सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध काल के नित्य होने से नित्य है । इसलिये काल के सम्बन्ध से पुरुष की बन्ध मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब दिशा सम्बन्ध से बन्ध होने का निषेध करते हैंः—

नदेशयोगतोऽप्यस्मात् । १३ ।

पद०—न । देशयोगतः । अपि । अस्मात् ।

पदा०—(देशयोगतः) दिशा के सम्बन्ध से (अपि) भी (न) पुरुष को बन्ध नहीं होसक्ती, क्योंकि (अस्मात्) व्यापक तथा नित्य होने के कारण उसका भी सब पुरुषों के साथ समान सम्बन्ध है ।

भाष्य—कालवादी तथा दिशावादी का मत समान है, इसलिये पूर्वसूत्र का भाष्य ही यहां समझना चाहिये ।

सं०–अब अवस्था से पुरुष की बन्ध का निषेध करते हैं:—

नावस्थातोदेहधर्मत्वात्तस्याः । १४ ।

पद०–न । अवस्थातः । देहधर्मत्वात् । तस्याः ।

पदा०–(अवस्थातः) शरीर की बाल्य, कौमार, यौवनादि अवस्था से भी (न) पुरुष को बन्ध नहीं होसक्ती, क्योंकि (तस्याः) यह अवस्थायें (देहधर्मत्वात्) देह का धर्म हैं ।

सं०–ननु, अवस्थाको पुरुष ही का धर्म क्यों न मानाजाय ? उत्तरः—

असङ्गोऽयंपुरुष इति । १५ ।

पद०–असङ्गः । अयं । पुरुषः । इति ।

पदा०–(अयं) यह (पुरुषः) पुरुष (असङ्गः) कूटस्थ नित्य है (इति) इसलिये अवस्थाएं पुरुष का धर्म नहीं होसक्तीं ।

भाष्य–जिस पदार्थ के स्वरूप तथा धर्म का कभी परिवर्त्तन नहीं होता किन्तु एक रस रहता है उसको कूटस्थ नित्य कहते हैं । यदि अवस्था को पुरुष का धर्म मानाजाय तो वह कूटस्थ नित्य नहीं रहसक्ता क्योंकि अवस्था का परिवर्त्तन होता रहता है इसलिये वह पुरुष का धर्म नहीं होसक्ती ।

सं०–अब शुभाशुभ कर्मों से बन्ध होने का निषेध करते हैं :–

न कर्मणाऽन्यधर्मत्वादातिप्रसक्तेश्च ।१६।

पद०–न । कर्मणा । अन्यधर्मत्वात् । अतिप्रसक्तेः । च ।

पदा०–(कर्मणा) शुभाशुभकर्मों सेभी (न) पुरुषको बन्ध नहीं होसक्ती, क्योंकि वह (अन्यधर्मत्वात्) पुरुष का धर्म नहीं (च)

और (अतिप्रसक्तेः) अन्य के धर्म से अन्य को बन्ध मानने में मुक्त को भी बन्ध माननी पड़ेगी।

भाष्य—शुभाशुभ कर्म बुद्धि आदि संघात के धर्म हैं पुरुषके नहीं, क्योंकि वह चेतन होने के कारण निष्क्रिय है, इस लिये उसको शुभाशुभ कर्मों से बन्ध नहीं होसक्ती।

यदि अन्य के धर्म से अन्य को बन्ध मानीजाय तो संसार में कोई भी मुक्त नहीं होसक्ता, क्योंकि वद्ध जीवों के कर्मों से मुक्त-कोभी बन्ध होनी संभव है, इसलिये शुभाशुभ कर्मों सेभी पुरुष को बन्ध नहीं होसक्ती।

सं०—अन्यके कर्मों से अन्य को बन्ध होने में और दूषण कहते हैं:—

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे।१७।

पद०—विचित्रभोगानुपपत्तिः। अन्यधर्मत्वे।

पदा०—(अन्यधर्मत्वे) एक के कर्म से दूसरे को फल होने में (विचित्रभोगानुपपत्तिः) जीवों के सुख दुख की विलक्षणता नहीं होसक्ती।

भाष्य—कोई सुखी, कोई दुःखी इसप्रकार लोक में जीवों के सुख दुःख की विचित्रता देख पड़ती है। यदि अन्य के किये कर्मोंका फल अन्य को मानाजाय तो उक्त विचित्रता न होनी चाहिये किन्तु सम्पूर्ण जीव सुखी अथवा दुःखी होने चाहियें, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतएव कर्मों से बन्ध माननी ठीक नहीं।

सं०—अब प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष को बन्ध होने की आशङ्का करके निषेध करते हैं:—

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या

अपि पारतन्त्र्यम् । १८ ।

पद०—प्रकृतिनिबन्धनात् । चेत् । न । तस्याः ।अपि। पारतन्त्र्यम् ।

पदा०—(चेत्) यदि (प्रकृतिनिबन्धनात्) प्रकृति के सम्बन्धसे पुरुष को बन्ध मानें तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (तस्याः) प्रकृति (अपि) भी (पारतन्त्र्यम्) पुरुष की बन्ध में अविवेक के आधीन है।

भाष्य—प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष को बन्ध नहीं होसक्ती, क्योंकि व्यापक होने के कारण उसका बद्ध, मुक्त, सब जीवों के साथ समान सम्बन्ध है और समान सम्बन्ध होने से बन्ध, मोक्ष की कोई व्यवस्था नहीं रहती अर्थात् मुक्तकोभी बन्ध होसक्ती है, और सांख्य सिद्धान्त में जो प्रकृति सम्बन्ध को बन्ध का हेतु माना है वह अविवेक के कारण माना है स्वतः नहीं, इसलिये केवल प्रकृति के सम्बन्ध से भी पुरुष को वन्ध होती है यह कथन ठीक नहीं ।

सं०—ननु, यदि स्वभाव आदि से पुरुष को बन्ध नहीं होती तो किससे होती है ? उत्तर :—

ननित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य-तद्योगस्तद्योगादृते । १९ ।

पद०—न।नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य।तद्योगः। तद्योगात् ।ऋते।

पदा०—(नित्यशुद्ध०) नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव वाले जीवात्मा को (तद्योगः) बन्ध (तद्योगात्, ऋते, न) अविवेक से होती है ।

भाष्य—'नित्य'=जिसका किसीप्रकार से नाश नहो 'शुद्ध'= जो प्राकृत गुणों के सम्बन्धसे रहित हो 'बुद्ध'=ज्ञानस्वरूप, और मुक्त होने के स्वभाव वाले पुरुषका नाम 'मुक्तस्वभाव' है । इसप्रकार के जीवात्मा को जो बन्ध होती है वह प्रकृति पुरुष के अविवेक से

होती है अर्थात् दुःख सम्बन्धरूप बन्ध प्रकृति का धर्म है और प्रकृति का पुरुष के साथ अनादि अविवेककृत तादात्म्य * सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध के कारण पुरुष में बन्ध का आरोप होता है जैसाकि लोह में दाहादि अग्नि के धर्मों का आरोप होता है, इसका प्रकार प्रथम सूत्र के भाष्य में पूर्णरीति से वर्णन कर आए हैं।

यहां इतना विशेष जानना आवश्यक है कि अविवेककृत प्रकृति पुरुष के संयोग से पुरुष को बन्ध होती है जैसाकि **"तद्योगोऽप्यविवेकान्नसमानत्वम्"** सां०१।१९ इस सूत्र में आचार्य्य ने स्पष्ट लिखा है कि जो पुरुष को बन्ध का हेतु प्रकृति का संयोग है वह अविवेक से है केवल प्रकृति का सम्बन्ध बन्ध का हेतु नहीं और इसी बात को **"द्रष्टृदृश्ययोःसंयोगोहेयहेतुः"** यो०२।१७ इस सूत्र में भले प्रकार स्पष्ट किया है कि पुरुष को जो दुःख होता है उसका कारण अविद्याकृत प्रकृति पुरुष का संयोग है।

तात्पर्य्य यह है कि पुरुष को जो बन्ध होती है वह अविवेक से होती है स्वभाव से नहीं।

सं०—अब अविद्यासे पुरुष की बन्ध का खण्डन करते हैं :—

*नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ।२०।

पद०—न । अविद्यातः । अपि । अवस्तुना । बन्धायोगात् ।

पदा०—(अविद्यातः) अविद्या से (अपि) भी (न) पुरुष को बन्ध नहीं होसक्ती, क्योंकि (अवस्तुना) वह अवस्तु है और अवस्तु से (बन्धायोगात्) बन्ध होना ठीक नहीं।

भाष्य—अविद्यावादी बौद्ध ने जिस अविद्या से पुरुष की बन्ध मानी है वह उसके मतमें कोई वस्तु नहीं अर्थात् अवस्तु है और

* उसी का रूप होजाता।

अवस्तु से बन्ध नहीं होसक्ती क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है कि वस्तु-भूत रज्जु से ही पुरुषादिकों की बन्ध होती है अवस्तुभूत स्वप्नरज्जु से नहीं, इसलिये अविद्या से पुरुष की बन्ध मानना ठीक नहीं।

सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक, इसप्रकार बौद्धों के चार भेद हैं। इनमें से सौत्रान्तिक और वैभाषिक, वाह्य पदार्थ तथा विज्ञान को मानते हैं, यह दोनों इन के मत में क्षणिक हैं और योगाचार केवल क्षणिक विज्ञान ही मानता है, इन तीनों के मत में विज्ञान को अविद्या से बन्ध है और माध्यमिक विज्ञान को भी नहीं मानता उसके मत में केवल एक शून्य ही पदार्थ है। इस सूत्र में प्रथम योगाचार के मत से बन्ध का खण्डन किया है औरों का यथाक्रम आगे करेंगे।

यहां यहभी जानना आवश्यक है कि वैदिक सिद्धान्त में भी अविद्या ही से पुरुष की बन्ध मानी है परन्तु उसको अवस्तु नहीं माना किन्तु भावरूप एक वस्तु माना है, इसलिये इस सिद्धान्त में उक्त दोष नहीं आता।

अविद्या, अविवेक, मिथ्याज्ञान, यह सब वैदिकों के मत में पर्य्याय शब्द हैं।

सं०—ननु हमारे मत में अविद्या सर्वथा अवस्तु नहीं किन्तु वस्तु है अतएव उससे पुरुष की बन्ध हो सक्ती है। अब योगाचार की इस शङ्का का समाधान करते हैं:—

वस्तुत्वेसिद्धान्तहानिः ।२१।

पद०—वस्तुत्वे। सिद्धान्तहानिः।

पदा०—(वस्तुत्वे) अविद्या को वस्तुमानने से (सिद्धान्तहानिः) सिद्धान्त की हानि होती है।

भाष्य—आपके सिद्धान्त में क्षणिकविज्ञान ही एक पदार्थ है और उसकी अवस्तुभूत अविद्या से बन्ध होती है यदि अविद्या को वस्तु मानें तो आपका यह सिद्धान्त नहीं रहता। इसलिये अविद्या को वस्तु मानना ठीक नहीं।

सं०—अविद्या को वस्तु मानने में और दोष कहते हैं:—

* विजातीयद्वैतापत्तिश्च ।२२।

पद०—विजातीयद्वैतापत्तिः। च।

पदा०—(च) और दूसरे अविद्या को वस्तु मानने से (विजातीयद्वैतापत्तिः) विजातीयद्वैत की प्राप्ति होती है।

भाष्य—आपके मत में क्षणिकविज्ञान ही एक अद्वितीय पदार्थ है, यदि उससे विजातीयवस्तु अविद्या भी मानीजाय तो आपका अद्वैत नहीं रहता किन्तु विजातीय अविद्या से द्वैतवाद आजाता है, इसलिये अविद्या को वस्तु मानना ठीक नहीं।

सं०—अब योगाचार आशङ्का करता है:—

* विरुद्धोभयरूपाचेत् ।२३।

पद०—विरुद्धोभयरूपा। चेत्।

पदा०—(चेत्) यदि (विरुद्धोभयरूपा) वस्तु, अवस्तु उभयरूप अथवा उभय से विलक्षण अविद्या मानें तो ठीक नहीं। इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है:—

भाष्य—हमारे मत में अविद्या वस्तु तथा अवस्तु नहीं किन्तु वस्तु अवस्तु उभयरूप अथवा न वस्तु, न अवस्तु, प्रत्युत दोनों से विलक्षण

अनिर्वचनीय है, इसलिये सिद्धान्त हानि और विजातीयद्वैतापत्तिरूपदोष नहीं आता ।

सं०—अब उक्त आशङ्का का सामाधान करते हैं :—

न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः ।२४।

पद०—न । तादृक्पदार्थाप्रतीतेः ।

पदा०—(न) वस्तु, अवस्तु उभयरूप तथा वस्तु, अवस्तु से विलक्षण अविद्या नहीं होसक्ती, क्योंकि (तादृक्पदार्थाप्रतीतेः) इस प्रकार का पदार्थ लोक में प्रसिद्ध नहीं है ।

भाष्य—लोकमें दोही प्रकार के पदार्थ पाएजाते हैं, एक वस्तु अर्थात् भावपदार्थ और दूसरे अवस्तु अर्थात् तुच्छ* इनदोनों का समुदायरूप अथवा दोनों से विलक्षण कोई पदार्थ नहीं पायाजाता। अतएव वस्तु अवस्तु उभयरूप तथा इनसे विलक्षण अविद्या मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब योगाचार फिर आशङ्का करता है :—

नवयंषट्पदार्थवादिनोवैशेषिकादिवत् ।२५।

पद०—न । वयम् । षट्पदार्थवादिनः । वैशेषिकादिवत् ।

पदा०—(वयम्) हम (वैशेषिकादिवत्) कणाद तथा गौतमादि की भांति (षट्पदार्थवादिनः) छ अथवा पो ष आदि नियत पदार्थों के माननेवाले (न) नहीं हैं ।

---

* जो अत्यन्त अलीक हो उसको तुच्छ कहते हैं जैसे शशशृङ्ग, बन्ध्यापुत्रादि ।

भाष्य–जैसे वैशेषिक और नैयायिकादि वैदिक लोग द्रव्य तथा प्रमाणादि * भेद से छ अथवा सोलह पदार्थ मानते हैं, इसप्रकार हम नियतपदार्थ नहीं मानते, हमारे मत में पदार्थों का यह नियम नहीं कि वह वस्तु तथा अवस्तु भेद से दोही प्रकार के हैं किन्तु कोई अवस्तुरूप, कोई वस्तु अवस्तु उभयरूप और कोई वस्तु अवस्तु से विलक्षण होते हैं, इसलिये लोक में वस्तु अवस्तु उभयरूप अथवा वस्तु अवस्तु से विलक्षण कोई पदार्थ न पाए जाने से इस प्रकार की अविद्या का न मानना ठीक नहीं ।

सं०–अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं :–

अनियतत्वेऽपिनायौक्तिकसंग्रहो-ऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम् ।२६।

पद०–अनियतत्वे । अपि । न । अयौक्तिकसंग्रहः । अन्यथा । बालोन्मत्तादिसमत्वम् ।

पदा०–(अनियतत्वे, अपि) पदार्थों का नियम न होने पर भी (अयौक्तिकसंग्रहः) युक्ति रहित पदार्थ को कोई बुद्धिमान् (न) नहीं मानसक्ता, क्योंकि (अन्यथा) ऐसे पदार्थ का मानने वाला (बालोन्मत्तादिसमत्वम्) बाल और उन्मत्त के समान समझा जाता है ।

भाष्य–बुद्धिमान् पुरुष उसी पदार्थ को मान सक्ता है जो लोक में प्रसिद्ध और युक्तिसिद्ध हो, यदि इससे विपरीत मानें तो वह बालक तथा उन्मत्त के समान माना जाता है । आपकी मानी हुई

* द्रव्यादि षट्पदार्थों तथा प्रमाणादि षोड़षपदार्थों का वैशेषिकार्य्यभाष्य और न्यायार्य्यभाष्य में विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है ।

अविद्या न लोकमें प्रसिद्ध है और न युक्ति सिद्ध है क्योंकि जो वस्तु से विलक्षण है वह अवस्तु और जो अवस्तु से विलक्षण है वह वस्तु अवश्य है । इन दोनों से विलक्षण अथवा दोनों का समुदायरूप कोई वस्तु नहीं हो सक्ती, इसलिये पदार्थों का नियम न होने पर भी युक्ति रहित अविद्या का मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मतसे बन्धका खण्डन करते हैं:-

* नानादिविषयोपरागनिमित्ततोऽप्यस्य ।२७।

पद०-न । अनादिविषयोपरागनिमित्ततः । अपि । अस्य ।

पदा०-(अस्य) इस पुरुषको (अनादिविषयोपरागनिमित्ततः) अनादिविषय वासनां से (अपि) भी (न) बन्ध नहीं होसकृती ।

भाष्य-सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मत में क्षणिकविज्ञानरूप पुरुष को अनादि विषयवासना से विषयाकारता की प्राप्ति का नाम बन्ध है । सो यह ठीक नहीं, क्योंकि यह नियम है कि विषयों के अनुभव से अनुभवतापुरुष में वासना उत्पन्न होती है और सौ-त्रान्तिक तथा वैभाषिक के मत में जो विषयों का अनुभवता अर्थात् अनुभव करने वाला विज्ञान है वह अनुभव जन्य वासना का आश्र-य नहीं होसक्ता, क्योंकि वह क्षणिक होने के कारण अनुभव क्षण से दूसरे वासना उत्पत्ति क्षण में नष्ट होगया है और तदनन्तर भावी दूसरा विज्ञान विषयों का अनुभवता नहीं और अनुभवता के अति-रिक्त दूसरे में वासना रह नहीं सक्ती, इसलिये विषयवासना से बन्ध मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब उक्त मत में और दूषण कहते हैं:-

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरञ्जक-भावोऽपिदेशव्यवधानात्स्रुघ्नस्थ-पाटलिपुत्रस्थयोरिव । २८ ।

पद०–न । बाह्याभ्यन्तरयोः । उपरञ्ज्योपरञ्जकभावः । अपि । देशव्यवधानात् । स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोः । इव ।

पदा०–(स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोः) जैसे आगरा और पटना में स्थित स्फटिक और पुष्प का परस्पर उपरञ्ज्योपरञ्जक भाव नहीं होसक्ता, इसीप्रकार (बाह्याभ्यन्तरयोः) विषय और विज्ञान का (अपि) भी (उपरञ्ज्योपरञ्जकभावः) परस्पर उपरञ्ज्योपरञ्जक भाव नहीं होसकता क्योंकि (देशव्यवधानात्) विषय और विज्ञान के मध्य में शरीररूप देश का व्यवधान है ।

भाष्य–विषयों के अनुभव से जो विज्ञानात्मा में उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसका नाम "**वासना**" है । वासना, उपराग, यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जिस विषय की वासना होती है उसका नाम "**उपरञ्ज्यक**" और जिसमें होती है उसका नाम "**उपरञ्ज्य**" है, उपरञ्ज्योपरञ्जकभाव उन्हीं दो पदार्थों का होता है जिनके मध्यमें व्यवधान न हो और जिनके मध्य में व्यवधान होता है उनका परस्पर उक्तभाव कदापि नहीं होसक्ता, जैसाकि स्फटिक और पुष्प का परस्पर उपरञ्ज्योपरञ्ज्यकभाव है अर्थात् पुष्प उपरञ्ज्यक और स्फटिक उपरञ्ज्य है, परन्तु आगरा प्रान्तस्थ पुष्प का पटना प्रान्तस्थ स्फटिक में कदापि प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता क्योंकि मध्य में देशका व्यव-

धान है। इसी प्रकार विषयों का विज्ञान में भी प्रतिबिम्ब नहीं पड़सक्ता, क्योंकि विषय शरीर से बहिर्देश में और विज्ञान शरीर के भीतर है।

यहां यहभी जानना आवश्यक है कि यद्यपि वैदिक सिद्धान्त में भी जीवात्मा पुरुष शरीर के भीतर और विषय शरीर के बाहर हैं तथापि चक्षुआदि इन्द्रियों के द्वारा विषयों का जीवात्मापुरुष के साथ व्यवधान रहित सम्बन्ध है इसलिये उक्त दोष नहीं आता, परन्तु सौत्रान्तिक और वैभाषिक गोलक व्यतिरिक्त इन्द्रियों को नहीं मानते और गोलक भी विषयों की भांति शरीर के भीतर नहीं किन्तु बाहर हैं। इसलिये विषयवासना से पुरुष का बन्ध मानना ठीक नहीं।

सं०–ननु, हमारे मत में विज्ञानात्मा पुरुष शरीर के भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है इसलिये उक्त दोष नहीं आता। अब इस आशङ्का का समाधान करते हैं:–

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्नव्यवस्था । २९ ।

पद०–द्वयोः। एकदेशलब्धोपरागात्। न। व्यवस्था।

पदा०–(द्वयोः) बद्ध मुक्त दोनों का (एकदेशलब्धोपरागात्) बाहर भीतर परिपूर्ण होने के कारण विषयों के साथ समान सम्बन्ध होने से (व्यवस्था) बन्ध, मोक्ष की व्यवस्था (न) नहीं रहती।

भाष्य–यदि विज्ञान को बाहर भीतर परिपूर्ण मानें तो जैसे बद्ध विज्ञान का विषयों के साथ सम्बन्ध है, इसी प्रकार मुक्त का भी सम्बन्ध है और सम्बन्ध के होने से बद्ध की भांति मुक्त कोभी

बन्ध होना चाहिये क्योंकि विषयों के सम्बन्ध से दोनों में उनकी वासना रह सक्ती है और वासना के रहने से बन्ध मोक्ष की अव्यवस्था होजाती है। इसलिये वासना से बन्ध मानना ठीक नहीं।

सं०-अब फिर आशङ्का करते हैं:-

अदृष्टवशाच्चेत्। ३०।

पद०-अदृष्टवशात्। चेत्।

पदा०-(चेत्) यदि (अदृष्टवशात्) अदृष्ट से व्यवस्था मानें तो ठीक नहीं-इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है:-

भाष्य-विषयों के सम्बन्धमात्र से विज्ञानात्मा में उनकी वासना नहीं रहती, किन्तु जिस विज्ञानात्मा के अदृष्ट हैं उसी में उनकी वासना रहती है अन्य में नहीं और मुक्तात्मा में ज्ञान बल से अदृष्टों के क्षय होजाने के कारण उनकी वासना नहीं रहसक्ती और वासना न रहने से बन्धमोक्ष की व्यवस्था भी नहीं रहती। अतएव विषय वासना से बन्ध मानना ही युक्त है।

सं०-अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं:-

न द्वयोरेककालायोगादुपकार्य्योपकारकभावः। ३१।

पद०-न। द्वयोः। एककालायोगात्। उपकार्य्योपकारकभावः।

पदा०-(उपकार्य्योपकारकभावः) अदृष्टों से भी बन्ध की व्यवस्था (न) नहीं होसक्ती, क्योंकि (द्वयोः) अदृष्ट का कर्त्ता और भोक्ता दोनों (एककालायोगात्) एक कालमें विद्यमान नहीं।

भाष्य–जिस विज्ञानात्मा के अदृष्ट हैं उसी को विषयवासना से बन्ध होती है अन्य को नहीं, यह व्यवस्था तभी होसक्ती है जब अदृष्ट तथा वासना का आश्रय विज्ञानात्मा एक हो और आपके मत में विज्ञानात्मा पुरुष शुभाशुभकर्मजन्य अदृष्ट का आश्रय है और वह क्षणिक होने के कारण अदृष्टों से होने वाली विषयवासना के आश्रय विज्ञानात्मा के काल में नहीं है और उस काल में न होने से एक के अदृष्ट से दूसरेको विषय वासना का सम्बन्ध नहीं होसक्ता क्योंकि दोनों समान कालक नहीं, इसलिये अदृष्ट से बन्ध की व्यवस्था नहीं हो सक्ती ।

सं०–अब उक्तार्थ में पुनः आशङ्का करते हैं:–

पुत्रकर्मवदितिचेत् । ३२ ।

पद०–पुत्रकर्मवत् । इति । चेत् ।

पदा०–(पुत्रकर्मवत्) पिता के किये गर्भाधानादि संस्कार कर्म की भांति अन्य के कर्म से अन्यको फल होसक्ता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा मानें तो ठीक नहीं–इसका आगे सूत्र से सम्बन्ध है:–

भाष्य–जैसे पिता गर्भाधानादि संस्कार कर्म करता है और उस का फल पुत्र को होता है वैसेही एक विज्ञान के अदृष्टों से अन्य विज्ञान को विषयवासना का सम्बन्ध होजायगा, इसलिये विषयवासना से पुरुष की बन्ध मानने में कोई अव्यवस्था नहीं ।

सं०–अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:–

न अस्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो

* गर्भाधानादिना संस्क्रियते । ३३ ।

पद०—न । अस्ति । हि । तत्र । स्थिरः । एकात्मा । यः । गर्भाधानादिना । संस्क्रियते ।

पदा०—(न) उक्त उदाहरण ठीक नहीं, क्योंकि (तत्र) जिन के मत का उदाहरण है उनके मत में (यः) जिस जीवात्मा का (गर्भाधानादिना) गर्भाधानादि कर्म से (संस्क्रियते) संस्कार किया जाता है वह (स्थिरः) स्थिर और (एकात्मा) एक (हि) ही (अस्ति) है ।

भाष्य—गर्भाशय का शोधन करके गर्भाधान करने का नाम **"गर्भाधानकर्म"** और विद्यमान अर्थ में पूर्व गुण से विलक्षण गुण के आधान का नाम **"संस्कार"** है । यह गर्भाधान संस्कार जिसका किया जाता है और जो करता है वह दोनों वैदिकों के मतमें स्थिर हैं, इस लिये उनका समानकालक होने के कारण परस्पर उपकार्य्योपकारकभाव बनसक्ता है, परन्तु आपके मत में अदृष्ट का आश्रय विज्ञान तथा वासना का आश्रय विज्ञान यह दोनों अस्थिर हैं अर्थात् अपने उत्पत्ति क्षण से दूसरे क्षण में न रहने के कारण असमानकालक हैं इसलिये एक के अदृष्ट से दूसरे को विषयवासना का सम्बन्ध नहीं होसक्ता और सम्बन्ध न होने से बन्ध की व्यवस्था भी नहीं होसक्ती ।

सं०—अब प्रसङ्ग सङ्गति से क्षणिक बाह्य पदार्थवादी वैभाषिक पूर्वपक्ष करता है:—

* स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् । ३४ ।

पद०—स्थिरकार्यासिद्धेः । क्षणिकत्वम् ।

पदा०-(स्थिरकार्यासिद्धेः) जितने पदार्थ हैं उनमें कोई भी स्थिर नहीं (क्षणिकत्वम्) सब क्षणिक हैं।

भाष्य-जो पदार्थ अपने उत्पत्ति क्षण से उत्तर क्षण में नहीं रहता अर्थात् उत्पत्ति क्षणमात्र ही रहता है उसको "क्षणिक" कहते हैं। और यह नियम है कि जो पदार्थ सत् है वह क्षणिक है क्योंकि दीपशिखा में क्षणिकत्व के साथ सत्त्व की व्याप्ति देखी जाती है, इसी प्रकार जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ भी सत् हैं इसलिये वह भी क्षणिक हैं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् । ३५ ।

पद०-न । प्रत्यभिज्ञाबाधात् ।

पदा०-(न) जो वस्तु सत् होती है वह क्षणिक होती है यह नियम ठीक नहीं, क्योंकि इसका (प्रत्यभिज्ञाबाधात्) प्रत्यभिज्ञा से बाध होजाता है।

भाष्य-यह वही घट है, यह वही पट है, इस प्रकार प्रथम अनुभव किये हुए अर्थ को विषय करने वाले प्रत्यक्षज्ञान का नाम "प्रत्यभिज्ञा" है, और जो हेतु के बल से सिद्ध किया जाता है उस का नाम "साध्य" और जिस से साध्यको सिद्ध किया जाता है उसका नाम "हेतु" और साध्याभाव के निश्चय का नाम "बाध" है। प्रकृत में "सत्व" हेतु और "क्षणिकत्व" साध्य है क्योंकि सत्त्व से जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में क्षणिकत्व सिद्ध किया जाता है परन्तु उनमें सत्व के होने पर भी क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सक्ती क्योंकि यह वही घट है, यह वही पट है, इत्यादि प्रत्यभिज्ञा से उस

के अभावका निश्चय होता है, यदि उक्त पदार्थ क्षणिक होते तो इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा कदापि न होती, इससे पाया जाता है कि सत्त्वहेतु क्षणिकत्व का साधक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे द्रव्यत्वहेतु जल में शीतलता के साथ व्याप्त होने पर भी वन्हि में शीतलता को सिद्ध नहीं कर सक्ता क्योंकि प्रत्यक्ष में वन्हि में शीतलता का अभाव है, इसी प्रकार सत्त्वहेतु भी जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में क्षणिकत्व सिद्ध नहीं करसक्ता क्योंकि उनमें भी प्रत्यभिज्ञा से क्षणिकत्वाभाव पाया जाता है, इसलिये संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को क्षणिक मानना ठीक नहीं ।

सं०–उक्त पूर्वपक्ष में और दूषण कहते हैं:–

श्रुतिन्यायविरोधाच्च । ३६ ।

पद०–श्रुतिन्यायविरोधात् । च ।

पदा०–(च) और (श्रुतिन्यायविरोधात्) क्षणिकत्व मानने में श्रुति तथा न्याय का विरोध आता है ।

भाष्य–यदि आपके कथनानुसार सब पदार्थों को क्षणिक माना जाय तो **"सदेवसोम्येदमग्र आसीत्"** छा० ६।२।१ अर्थ = हे सोम्य यह सम्पूर्ण जगत् उत्पत्ति से पूर्व सत् था **"कथमसतः सज्जायेत"** छा० ६।२।२।अर्थ = असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती । इत्यादि श्रुति तथा श्रौत न्यायों से विरोध आता है क्योंकि उत्पत्ति से प्रथम सत् कथन करने से वह सब पदार्थ वर्त्तमान तथा भविष्यत् में भी सत् सिद्ध होते हैं, यदि सब पदार्थ क्षणिक होते तो उक्त श्रुति तथा न्याय इन सब को इस प्रकार सत् निरूपण न करते क्योंकि क्षणमात्र स्थिति वाला पदार्थ तीनों कालों में सत् नहीं होसक्ता, इसलिये जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को क्षणिक मानना ठीक नहीं ।

सं०–ननु, उक्त श्रुति तथा श्रौत न्याय से सम्पूर्ण पदार्थों का अक्षणिक अर्थात् क्षणिक न होना सिद्ध नहीं होता किन्तु सत् होना सिद्ध होता है और वह हमारे अनुकूल है क्योंकि हम सत् होने से ही सम्पूर्ण जगत् को दीपशिखा की भांति क्षणिक मानते हैं। अब इस आशंका का समाधान करते हैं:–

दृष्टान्तासिद्धेश्च । ३७ ।

पद०–दृष्टान्तासिद्धेः । च ।

पदा०–(च) और (दृष्टान्तासिद्धेः) दीपशिखा दृष्टान्त में क्षणिकत्व की सिद्धि भी नहीं है।

भाष्य–यह नियम है कि दृष्टान्त के बल से साध्य की सिद्धि होती है और आपने जो दीपशिखा का दृष्टान्त दिया है इसमें सत्व-हेतु है परन्तु क्षणिकत्व नहीं क्योंकि वह अनेकक्षण स्थिर रहती है केवल स्थिरकाल के क्षणों का अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ग्रहण न होने से क्षणिकत्व का भ्रम होता है वस्तुतः वह क्षणिक नहीं अर्थात् एकक्षण से अधिक स्थिर रहकर पश्चात् बदलती है और आपके मत में एकक्षण स्थिर वस्तु का नाम क्षणिक है, इस प्रकार जबकि दृष्टान्त में ही क्षणिकत्व सिद्ध नहीं है तो उसके बल से जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होसक्ता, इसलिये सम्पूर्ण पदार्थों को क्षणिक मानना ठीक नहीं।

सं०–अब क्षणिकवाद में और दूषण कहते हैं:–

युगपज्जायमानयोर्नकार्य्यकारणभावः। ३८ ।

पद०–युगपज्जायमानयोः । न । कार्य्यकारणभावः ।

पदा०–(युगपज्जायमानयोः) एक काल में होने वाले दो पदार्थों का (कार्य्यकारणभावः) कार्य्यकारणभाव (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य—आप जो सम्पूर्ण पदार्थों को क्षणिक मानकर प्रत्येक पदार्थ की अपनी २ धारा में पूर्व २ क्षण*का उत्तर २ क्षण के साथ कार्य्यकारणभाव मानते हैं वह एककाल में उत्पन्न होने वालों का अथवा क्रम से उत्पन्न होने वाले पदार्थों का मानते हैं, यदि एक काल में उत्पन्न होने वालों का मानें तो ठीक नहीं, क्योंकि जो एक काल में उत्पन्न होते हैं उनका परस्पर पूर्वापरीभाव नहीं होसक्ता और कार्य्यकारणभाव पूर्वापरीभाव के साथ व्याप्त है अर्थात् जहां कार्य्यकारणभाव होता है वहां अवश्यमेव एकपूर्व और दूसरा पश्चात् होता है, पूर्व होने वाले का नाम "**कारण**" और पश्चात् होने वाले का नाम "**कार्य्य**" है। और जो गौ आदिके दक्षिण, वाम शृङ्ग की भांति एक ही काल में उत्पन्न होते हैं उनमें पूर्वा-परीभाव कदापि नहीं होसक्ता और पूर्वापरीभाव न होने से कार्य्य कारण भाव होना भी असंभव है, अतएव एक काल में होने वाले पदार्थों का कार्य्यकारणभाव मानना युक्त नहीं।

सं०—यदि क्रम से होने वाले पदार्थों का कार्य्यकारणभाव मानें तो भी ठीक नहीं क्योंकि :—

पूर्वापाये उत्तरायोगात्। ३९।

पद०—पूर्वापाये। उत्तरायोगात्।

पदा०—(पूर्वापाये) पूर्वक्षण के नष्ट होजाने पर (उत्तरायोगात्) उत्तर क्षण की उत्पत्ति नहीं होसक्ती।

भाष्य—यह नियम है कि जो कारण होता है वह कार्य्य काल

*जितने काल में आंख खुलती है उसके चौथे भाग का नाम क्षण है, यहां क्षण मात्र रहने के कारण पदार्थ का नाम क्षणिक है

में विद्यमान रहता है, जैसाकि घट का मृत्तिका कारण घटकाल में विद्यमान है, इसी प्रकार यदि पूर्वक्षण को उत्तरक्षण का कारण मानें तो पूर्वक्षण को उत्तरक्षण समय में विद्यमान होना चाहिये परन्तु क्षणिकवाद में यह होना असंभव है क्योंकि उस में एक क्षण मात्र ही पदार्थ का स्थायित्व माना गया है अधिक नहीं, यदि पूर्व-क्षण को उत्तरक्षण समय में विद्यमान मानाजाय तो वह क्षणिक नहीं रहसक्ता। इसलिये क्रम से होने वालों का कार्य्य कारण भाव मानना ठीक नहीं।

सं०–अब उक्त पक्ष में और दोष देते हैं :–

तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न।४०।

पद०–तद्भावे। तदयोगात्। उभयव्यभिचरात्। अपि। न।

पदा०–(तद्भावे) कार्य्य तथा कारण के विद्यमान समय में (तदयोगात्) कारण तथा कार्य्य के अविद्यमान होने के कारण (उभयव्यभिचारात्) अन्वय व्यतिरेक का व्यभिचार पाए जाने से (अपि) भी (न) क्रम से होने वालों का कार्य्य कारणभाव नहीं हो सक्ता।

भाष्य–कारण के होने पर कार्य्य के होने का नाम "**अन्वय**" और न होने पर न होने का नाम "**व्यतिरेक**" है। यह दोनों कार्य्यकारण भाव के नियामक हैं अर्थात् जहां यह दोनों होते हैं वहां ही कार्य्य कारण भाव होता है। पूर्वक्षण तथा उत्तरक्षण में न अन्वय है और न व्यतिरेक है अर्थात् दोनों का व्यभिचार है क्योंकि पूर्वक्षण के होने पर उत्तरक्षण नहीं होता और न होने पर

होता है । इसलिये क्रम से होने वाले पूर्व २ क्षणों को उत्तरोत्तर क्षणों का कारण और उत्तरोत्तर को पूर्व २ का कार्य्य मानना ठीक नहीं ।

सं०—ननु, कार्य्य काल में कारण के विद्यमान रहने का नियम नहीं, किन्तु कार्य्य से पूर्व विद्यमान रहने का नियम है, पूर्व २ क्षण उत्तरोत्तर क्षणों से पूर्व विद्यमान हैं, इसलिये उनका कार्य्य कारण भाव होसक्ता है । अब इस आशङ्का का समाधान करते हैं :-

पूर्वभावमात्रे न नियमः ।४१।

पद०—पूर्वभावमात्रे । न । नियमः ।

पदा०—(पूर्वभावमात्रे) कार्य्य से कारण का पूर्वभावमात्र मानने में (नियमः) उपादान कारण तथा निमित्त कारण का नियम (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—यदि कार्य्य से पूर्व होने वाले को कारण मानाजाय और कार्य्य काल में विद्यमान रहने का नियम न किया जाय तो उपादानकारण और निमित्तकारण का कोई नियम नहीं रहता अर्थात् अमुक उपादान कारण और अमुक निमित्त कारण है, इस प्रकार कारणों का भेद नहीं करसक्ते क्योंकि पूर्वभावमात्र उपादान तथा निमित्त कारण दोनों में समान है, परन्तु उपादान और निमित्त कारण में कोई विशेषता अवश्य होनी चाहिये जिस से दोनों का ज्ञान हो जावे और यह कार्य्यकाल में विद्यमान रहने के नियम बिना नहीं हो सक्ता, और आप के मत में पूर्व २ क्षण उत्तरोत्तर क्षण के काल में विद्यमान नहीं है । इसलिये उनका

कार्य्य कारण भाव नहीं होसक्ता और उसके न होने से आप का माना हुआ क्षणिकवाद सर्वथा असङ्गत और त्याज्य है :

सं०—क्षणिकवाह्यार्थ क्षणिकविज्ञानवादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मत का खण्डन करके अब केवल विज्ञानवादी योगाचार के मत का खण्डन करते हैं :-

न विज्ञानमात्रं वाह्यप्रतीतेः । ४२ ।

पद०—न । विज्ञानमात्रं । वाह्यप्रतीते ।

पदा०—(विज्ञानमात्रं) एकमात्र विज्ञान ही पदार्थ (न) नहीं, क्योंकि (वाह्यप्रतीतेः) इसके अतिरिक्त वाह्यपदार्थों की भी प्रतीति होती है ।

भाष्य—योगाचार का मत यह है कि सम्पूर्ण जगत् विज्ञान मात्र है, विज्ञान के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि विज्ञान की भांति वाह्य पदार्थों की भी प्रतीति होती है अर्थात् जैसे अनुभव सिद्ध विज्ञान है वैसे ही वाह्यपदार्थ भी अनुभव सिद्ध हैं, इसलिये विज्ञान ही एक मात्र पदार्थ है, यह मानना ठीक नहीं ।

सं०—ननु, जो वाह्यपदार्थ प्रतीत होते हैं वह भी विज्ञान से अतिरिक्त नहीं किन्तु विज्ञान ही स्वप्नज्ञान की भांति पदार्थाकार हुआ वाह्य प्रतीत होता है, अब योगाचार की इस अशङ्का का समाधान करते हैं :-

तदभावे तदभावाच्छून्यन्तर्हि । ४३ ।

पद०—तदभावे । तदभावात् । शून्यं । तर्हि ।

पदा०-(तर्हि) यदि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यपदार्थ न मानें तो (तदभावे) उनके न होने के कारण (तदभावात्) तदाकार विज्ञान का भी असंभव होने से (शून्यं) एकमात्र शून्य ही शेष रहता है ।

भाष्य-यह नियम है कि ज्ञेय के विना ज्ञान नहीं रहता और न ज्ञेय के आकार को धारण कर सक्ता है, यदि बाह्य पदार्थ न माने जायं तो उनके विना विज्ञान का रहना तथा उनके आकार को धारण करना असम्भव है क्योंकि जब कोई पदार्थ ही नहीं तो आकार किसका और ज्ञान किसका क्योंकि आकार तथा ज्ञान यह दोनों पदार्थ के साथ व्याप्त हैं अर्थात् पदार्थ के होने पर होते और न होने पर नहीं होते, केवल विज्ञान कदापि पदार्थाकार नहीं होसक्ता और स्वप्न में विज्ञान ही पदार्थाकार नहीं हुआ किन्तु जाग्रत के पदार्थों का अन्यथा ज्ञान है । यदि पदार्थों की वासनाओं को आकार का हेतु मानें तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वासना भी पदार्थानुभवजन्य होने के कारण पदार्थों के माने बिना नहीं हो सक्ती । इसलिये विज्ञान ही एक पदार्थ है यह मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब शून्यवादी माध्यमिक पूर्वपक्ष करता है :—

शून्यं तत्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य । ४४ ।

पद०-शून्यं । तत्वं । भावः । विनश्यति । वस्तुधर्मत्वात् । विनाशस्य ।

पदा०-(शून्यं) शून्य ही (तत्वं) एक पदार्थ है क्योंकि

(भावः) जो विद्यमान पदार्थ है वह (विनश्यति) नष्ट होजाता है और (विनाशस्य) नाश होना (वस्तुधर्मत्वात्) पदार्थमात्र का धर्म है।

भाष्य—शून्यवादी माध्यमिक का आशय यह है कि पदार्थ मात्र का नाश होना स्वाभाविक धर्म है अर्थात् सब पदार्थों का नाश होजाता है और जिसका नाश होजाता है उसका आदि भी अवश्य होता है और जो पदार्थ आदि अन्त वाला है वह मध्य में भी स्वप्न पदार्थ की भांति मिथ्या ही प्रतीत होता है क्योंकि यह नियम है कि "**आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि-तत्तथा** = जो पदार्थ आदि तथा अन्त में नहीं है वह मध्य में भी नहीं है। इस प्रकार पदार्थमात्र आदि, अन्त तथा मध्य में न होने से सम्पूर्ण जगत् भी शून्य ही सिद्ध होता है और यही एक वास्तविक पदार्थ है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अपवादमात्रमबुद्धानाम्। ४५।

पद०—अपवादमात्रम्। अबुद्धानाम्।

पदा०—(अबुद्धानाम्) जो २ पदार्थ हैं उनका नाश होता है, यह मूढ़ माध्यमिक का (अपवादमात्रम्) प्रलापमात्र है।

भाष्य—पदार्थ मात्र सब विनाशी हैं यह नियम ठीक नहीं, हां जो सावयव पदार्थ हैं वह सब विनाशी हैं और जो निरवयव पदार्थ हैं वह अविनाशी हैं। पदार्थ का नाश उपादान कारण और आरम्भ-कसंयोग के नाश से होता है, जैसाकि मृत्तिका तथा कपाल-संयोग के नाश से घट का और तन्तु तथा तन्तुसंयोग के नाश से

पट का नाश होता है। उपादानकारण और आरम्भकपन यह दोनों सावयवपदार्थ में ही होते हैं निरवयव में नहीं क्योंकि जो उपादान-कारण तथा आरम्भकसंयोग वाला है वह कदापि निरवयव नहीं होसक्ता, इसलिये जितने पदार्थ हैं वह सब विनाशी हैं यह कथन सर्वथा असङ्गत है।

सं०-अब सौत्रान्तिक, वैभाषिकादि पक्ष की भांती माध्यमिक पक्ष को भी त्याज्य कथन करते हैं:-

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि।४६।

पद०-उभयपक्षसमानक्षेमत्वात्। अयम्। आपि।

पदा०-(उभयपक्ष समान क्षेमत्वात) प्रथम निरूपण किये दोनों पक्षों की भांति (अयम,अपि) यह माध्यमिक पक्ष भी त्याज्य है।

भाष्य-सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक, इस प्रकार बौद्धों के चार भेद हैं। इनमें सौत्रान्तिक और वैभाषिक का बाह्यार्थ वाद में समानता होने के कारण एक पक्ष और केवल विज्ञानवादी होने से योगाचार का दूसरा पक्ष तथा केवल शून्यवादी होने से माध्यमिक का तीसरा पक्ष है, इस प्रकार बौद्धों के तीन पक्ष माने जाते हैं। इनमें अयुक्त होने के कारण जैसे प्रथम के दोनों पक्ष त्याज्य हैं इसी प्रकार अत्यन्त अयुक्त होने के कारण यह माध्य-मिक का तीसरा पक्ष भी त्याग करने योग्य है।

सं०-अब शून्यवाद के त्याज्य होने में और हेतु कहते हैं:—

अपुरुषार्थत्वमुभयथा।४७।

पद०-अपुरुषार्थत्वम्। उभयथा।

पदा०-(उभयथा) दुःखात्यन्त निवृत्ति और उसका साधन,

इन दोनों में से एक भी न होने के कारण शून्य (अपुरुषार्थत्वम्) अपुरुषार्थ है।

भाष्य—दुःखात्यन्तनिवृत्ति और उसका साधन यह दोही पुरुष की अभिलाषा का विषय होने से पुरुषार्थ हैं आत्मनाश पुरुषार्थ नहीं, परन्तु शून्यवाद में पुरुषार्थ का भी नाश मानागया है जिसकी किसी को भी अभिलाषा नहीं है, इसलिये यह पक्ष सर्वथा अपुरुषार्थ होने के कारण सबको त्याज्य है।

सं०—बौद्धमत से पुरुष की बन्ध तथा विशेषरूप से बौद्धमत का खण्डन किया, अब गति विशेष से बन्ध का खण्डन करते हैं :—

* नगतिविशेषात्।४८।

पद०— न। गतिविशेषात्।

पदा०— (गतिविशेषात्) गतिविशेष से भी (न) पुरुष की बन्ध नहीं होसक्ती, क्योंकि :—

* निष्क्रियस्यतदसम्भवात्।४९।

पद०—निष्क्रियस्य। तदसम्भवात्।

पदा०—(निष्क्रियस्य) क्रिया परिणाम रहित होने के कारण उस में (तदसम्भवात्) गति का होना सम्भव नहीं।

भाष्य—इस लोक से परलोक में और परलोक से इस लोक में पुरुष के गमनागमन का नाम "गतिविशेष" है। इस गतिविशेष से बन्धवादी का यह अभिप्राय है कि पुरुष को लोक तथा परलोक की प्राप्ति ही बन्ध है। यदि वह इसलोक से परलोक और परलोक से इस लोक में गमनागमन न करे तो पुरुष को उक्त बन्ध की प्राप्ति

कदापि नहीं होसक्ती, इसलिये पुरुष की गतिविशेष से बन्ध मानना ठीक नहीं क्योंकि उत्पन्न और विनाशी होने के कारण गति एक प्रकार का विकार है वह परिणामी पदार्थ में ही होसक्ती है अपरिणामी में नहीं और पुरुष कूटस्थ नित्य होने के कारण अपरिणामी है उस में साक्षात् गति का होना असम्भव है, इसलिये पुरुष की गति विशेष से भी बन्ध मानना ठीक नहीं।

सं०—ननु, हमारे मत में जीव का मध्यम परिमाण है इसलिये उस में गति का होना असम्भव नहीं ? उत्तर:—

मूर्त्तत्वाद्घटादिवत्समानधर्मापत्तावप सिद्धान्तः।५०।

पद०—मूर्त्तत्वात्। घटादिवत्। समानधर्मापत्तौ। अपसिद्धान्तः।

पदा०—(घटादिवत्) जैसे घटादि पदार्थ मध्यम परिमाण होने से सावयव तथा विनाशी हैं इसी प्रकार पुरुष भी (मूर्त्तत्वात्) मध्यम परिमाण वाला होने से (समानधर्मापत्तौ) सावयव तथा विनाशी होजायगा और ऐसा होने से (अपसिद्धान्तः) आपके सिद्धान्त की हानि होती है।

भाष्य—आपके सिद्धान्त में जीवात्मा को नित्य माना है, यदि उसको घटादि पदार्थों के समान मध्यम परिमाण मानें तो वह सावयव होने से अनित्य होजायगा क्योंकि जो पदार्थ मध्यम परिमाण वाला होता है वह सावयव होता है और जो सावयव होता है वह अनित्य होता है, यह नियम है। इसलिये जीवात्मा को मध्यम परिमाण मान कर गति विशेष से बन्ध मानना ठीक नहीं।

सं०—ननु, यदि वास्तव में पुरुष निष्क्रिय है तो आपके मत में भी गति की प्रतिपादक श्रुति कैसे सङ्गत होसक्ती है ? उत्तर:—

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ।५१।

पद०—गतिश्रुतिः । अपि । उपाधियोगात् । आकाशवत् ।

पदा०—(आकाशवत्) जैसे घटादिरूप उपाधि के सम्बन्ध से आकाश में गति तथा अगति होती है वैसे ही (अपि) पुरुष में भी (उपाधियोगात्) बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से जो गति अगति होती है उसीका (गतिश्रुतिः) गति प्रतिपादक श्रुति प्रतिपादन करती है ।

भाष्य—वैदिक सिद्धान्त में जीवात्मा पुरुष को सत्, चित्-स्वरूप तथा अणु परिमाण वाला माना है, वह कूटस्थ नित्य होने के कारण क्रियारूप विकार का आश्रय नहीं होसक्ता । और जो उसकी इसलोक से परलोक में तथा परलोक मे इसलोक में गति अगति होती है वह बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से होती है जैसाकि घट की गति से आकाश की गति और घटकी अगति से आकाशकी अगति अथवा रथ की गति से रथी की गति और रथ की अगति से रथी की अगति होती है, भेद केवल इतना है कि आकाश महत्परिमाण और रथी मध्यमपरिमाण है और जीवात्मा पुरुष अणु परिमाण है, इसप्रकार बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से जो पुरुष का लोक लोकान्तर में गमनागमन होता है उसी का गति-प्रतिपादक श्रुति प्रतिपादन करती है अन्यका नहीं, जैसाकि :—

आयोधर्माणिप्रथमःससादततोवपूंषिकृणुषे-पुरूणि ।धास्युर्योनिंप्रथमआविवेशायोवाच-मनुदितांचिकेत । अथर्व० ५ । १ । १ । २ ।

अर्थ—जो जीव जिस प्रकार के कर्म करता है उन्हीं के अनुसार

उत्तम, मध्यम आदि जन्मों को पाता है अर्थात् पुण्य के जनक शुभकर्मों से देव, ऋषी, ब्राह्मणादि उत्तम जन्मों को और पाप के जनक अशुभकर्मों से वायु, जल, औषधादि द्वारा भ्रमण करता हुआ साधारण मनुष्य तथा पशु आदि योनि को प्राप्त होता है ।

पुण्येनपुण्यंलोकंनयतिपापेनपापमुभाभ्यामेवमनुष्यलोकम् । प्रश्न० २ । ७ ।

अर्थ–पुण्यकर्मों से देव, ऋषि जन्म को और पापकर्मों से पशु आदि जन्म को और पुण्यपाप मिश्रित कर्मों से मनुष्य जन्म को पाता है ।

सं०–अब धर्माधर्मरूप अदृष्टों से पुरुष की बन्ध का खण्डन करते हैं :—

नकर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् । ५२ ।

पद०–न । कर्मणा । अपि । अतद्धर्मत्वात् ।

पदा०–(कर्मणा) शुभाशुभ अदृष्टों से (अपि) भी (न) पुरुष की बन्ध नहीं होसक्ती क्योंकि वह (अतद्धर्मत्वात्) पुरुष का धर्म नहीं है।

भाष्य–अदृष्टों का आश्रय बुद्धि है पुरुष नहीं, इसलिये अदृष्टों से भी पुरुष को बन्ध नहीं होसक्ती ।

सं०–ननु, बुद्धि का धर्म होने पर भी अदृष्टों से पुरुष की बन्ध क्यों न मानी जाय ? उत्तर :—

अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे । ५३ ।

पद०–अतिप्रसक्तिः । अन्यधर्मत्वे ।

पदा०–(अन्यधर्मत्वे) अन्य के धर्म से अन्य का बन्ध मानने में

(अतिप्रसक्तिः) मुक्त को भी बन्ध होजायगा ।

भाष्य–जैसे बुद्धि से अन्य बद्धपुरुष हैं वैसे ही मुक्त भी है, यदि अन्य के धर्म से अन्य का बन्ध मानाजाय तो बद्धपुरुष की भांति मुक्तपुरुष का भी बन्ध होना चाहिये, इसलिये अदृष्टों से बन्ध मानना ठीक नहीं ।

सं०–ननु, अदृष्ट तो पुरुष ही का धर्म है बुद्धि का नहीं ? उत्तरः—

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति । ५४ ।

पद०–निर्गुणादिश्रुतिविरोधः । च । इति ।

पदा०–(च) अदृष्टों को पुरुष का धर्म मानने में (निर्गुणादि-श्रुतिविरोधः) निर्गुणता की प्रतिपादक श्रुतियों से विरोध आता है (इति) इसलिये पुरुष का धर्म नहीं मानसक्ते ।

भाष्य–"असङ्गोह्ययपुरुषः" बृह० ६ । ३ । १८=यह पुरुष विकारी गुणों के सम्बन्ध से रहित है । इत्यादि वाक्य पुरुष को विकारी वनाने वाले धर्मों का अनाश्रय कथन करते हैं, इसलिये अदृष्टों को पुरुष का धर्म मानने में उक्त वाक्यों के साथ विरोध आता है अतएव अदृष्टों को पुरुष का धर्म मानना ठीक नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे है कि पूर्व के १६, १७ सूत्रों में जो बन्ध का खण्डन किया है वह शुभाशुभ कर्मों से होने वाले बन्ध का किया है, और इन सूत्रों में शुभाशुभकर्मजन्य अदृष्टों से होने वाले बन्ध का खण्डन किया है, इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं आता ।

सं०–ननु, आपने जो १९ वें सूत्र में प्रकृतियोग को बन्ध का

हेतु निरूपण किया है वह नहीं बनसक्ता, क्योंकि वह योग बद्ध, मुक्त दोनों के साथ समान होसकता है, अब इस आशङ्का का समाधान करते हुए स्वसिद्धान्त को दृढ़ करते हैं:—

तद्योगोऽप्यविवेकान्नसमानत्वम् । ५५ । ।२०।

पद०—तद्योगः । अपि । अविवेकात् । न । समानत्वम् ।

पदा०—(तद्योगः) प्रकृति के जिस संयोग से पुरुष का बन्ध माना है वह (अविवेकात्) अविवेक से होता है (अपि) इसलिये उसकी बद्ध तथा मुक्त पुरुष में (समानत्वम्) समानता नहीं ।

भाष्य—सांख्यसिद्धान्त में अविवेक से होनेवाले प्रकृतिसंयोग को पुरुष की बन्ध का हेतु माना है संयोग मात्र को नहीं, इसलिये वह बद्ध तथा मुक्त पुरुषों में समान नहीं क्योंकि मुक्त पुरुषों में विवेक से अविवेक का नाश होचुका है और अविवेक के नाश होजाने से केवल प्रकृति-संयोग के विद्यमान होने परभी वह उनकी बन्ध का हेतु नहीं होसक्ता और यह अनुभव सिद्ध भी है कि संसार में वही पदार्थ अपने संयोग तथा वियोग से पुरुष के सुख दुःख का हेतु होता है जिसके साथ वह अविवेक से अपना असाधारण सम्बन्ध मान लेता है, अन्य नहीं इसी प्रकार बद्ध, मुक्त, दोनों के साथ प्रकृति का सम्बन्ध विद्यमान होने पर भी मुक्त की बन्ध का हेतु नहीं होसक्ता क्योंकि मुक्त पुरुष ने अपने अविवेक से उसके साथ असाधारण सम्बन्ध सम्पादन नहीं किया, इसलिये बन्धन का हेतु अविवेक है प्रकृति योग नहीं।

सं०—ननु, जिस अविवेक से होने वाला प्रकृति पुरुष का संयोग बन्ध का हेतु है उसकी निवृत्ति किससे होती है ? उत्तर :—

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत्।५६।

पद०—नियतकारणात् । तदुच्छित्तिः । ध्वान्तवत् ।

पदा०—(ध्वान्तवत्) जैसे अंधकार की प्रकाश से निवृत्ति होजाती है, वैसेही (नियतकारणात्) विवेकज्ञान से (तदुच्छित्तिः) अविवेक की निवृत्ति होती है ।

भाष्य—जैसे अन्धकार की निवृत्ति का प्रकाश नियत कारण है वैसे ही अविवेक की निवृत्ति का विवेक भी नियत कारण है जैसाकि योगदर्शन में भी कहा है कि "अविप्लवाविवेकख्यातिर्हानोपायः" यो० २ । २६ = संशय विपर्य्य रहित विवेकज्ञान ही अविवेक की निवृत्ति का उपाय है । और यह अनुभवसिद्ध भी है कि रज्जु में जो सर्प की भ्रान्ति होती है वह रज्जु सर्प के अविवेक से होती है और फिर विवेकज्ञान के होने पर उक्त अविवेक के निवृत्त होजाने से निवृत्त होजाती है, इसीप्रकार प्रकृति पुरुष के अविवेक की निवृत्ति का उपाय भी एकमात्र विवेकज्ञान ही है । अतएव सांख्यशास्त्र के अभ्यास द्वारा अविवेक की निवृत्ति के लिये प्रकृतिपुरुष का विवेकज्ञान सम्पादन करना आवश्यक है।

सं०—ननु, प्रकृति पुरुष के विवेक द्वारा प्रकृति पुरुष के अविवेक की निवृत्ति होजाने पर भी पुरुष की मोक्ष नहीं होसक्ती क्योंकि अन्य अविवेक विद्यमान है ? उत्तर :—

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्यतद्धाने हानम् ।५७।

पद०—प्रधानाविवेकात् । अन्याविवेकस्य । तद्धाने । हानम् ।

पदा०—(प्रधानाविवेकात्) प्रकृति पुरुष के अविवेक से (अन्याविवेकस्य) अन्य अविवेकों की उत्पत्ति होती है और (तद्धाने) उसकी निवृत्ति से (हानम्) अन्य अविवेकों की निवृत्ति होजाती है।

भाष्य—कारण की निवृत्ति से कार्य्य की निवृत्ति होती है यह नियम है, प्रकृति पुरुष का अविवेक ही देह, इन्द्रिय, पुत्र कलत्र, आदि अविवेक का निमत्त कारण है क्योंकि प्रकृति पुरुष का अविवेक होने से ही पुरुष बुद्धि की भांती देह, इन्द्रिय, पुत्र, कलत्रादि को अपना आत्मा मानकर उनके नाश से अपना नाश मानता है । इसलिये विवेकज्ञान के द्वारा प्रकृति पुरुष का अविवेक निवृत्त होजाने से अन्य अविवेक स्वयं निवृत्त होजाते हैं उनकी निवृत्ति के लिये किसी उपाय की अपेक्षा तथा मोक्ष की कोई अनुपपत्ति नहीं।

सं०—ननु, यदि विवेकज्ञान से पुरुष की मोक्ष मानें तो बन्धादिक भी स्वरूप से मानने पड़ेंगे अविवेककृत प्रकृतिसंयोग से नहीं ? उत्तरः—

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वंचित्तस्थितेः । ५८ ।

पद०—वाङ्मात्रं । नतु । तत्त्वं । चित्तस्थितेः ।

पदा०—(वाङ्मात्रं) बन्ध, विवेक, अविवेक, प्रयत्न प्रभृति सब धर्म पुरुष में औपाधिक हैं (नतु,तत्त्वं) स्वाभाविक नहीं, क्योंकि स्वभाव से उनकी (चित्तस्थितेः) बुद्धि में स्थिति है ।

भाष्य—जैसे लाली जयापुष्प का स्वाभाविक धर्म है और पुष्पके सन्निधान से स्फटिक में प्रतीतिमात्र होती है वस्तुतः वह स्फटिक में नहीं है, इसी प्रकार बन्ध, विवेक, अविवेक, प्रयत्नादि जितने धर्म हैं वह वास्तव में बुद्धि में हैं पुरुष में नहीं, केवल बुद्धिरूप

उपाधि के सन्निधान से पुरुष में उनकी प्रतीति होती है, इसी प्रतीतिमात्र को आचार्य्य ने "वाङ्मात्र" शब्दसे कथन किया है अर्थात् पुरुष में बन्धादिक सम्पूर्ण धर्म व्यावहारिक हैं पारमार्थिक नहीं।

सं०-ननु, यदि बन्धादिक पुरुष में स्वाभाविक नहीं औपाधिक हैं तो वह श्रवण तथा मनन करने से ही निवृत्त होजावेंगे फिर विवेक साक्षात्कार की क्या आवश्यक्ता है ? उत्तर :-

युक्तितोऽपि न बाध्यतेदिङ्मूढ़वदपरोक्षादृते । ५६ ।

पद०-युक्तितः । अपि । न । बाध्यते । दिङ्मूढ़वत् । अपरोक्षात् । ऋते ।

पदा०-(दिङ्मूढ़वत्) जैसे दिशा का भ्रम (अपरोक्षात्, ऋते) दिशा के साक्षात्कार हुए बिना श्रवण तथा मनन से निवृत्त नहीं होता वैसेही बन्धादिक भी विवेक साक्षात्कार के बिना (युक्तितः, अपि) श्रवण तथा मनन से (न बाध्यते) निवृत्त नहीं होसक्ते ।

भाष्य-पुरुष में जो बन्धादिक प्रतीत होते हैं उनका मूलकारण प्रकृति पुरुष का अविवेक है "प्रकृति पुरुष परस्पर भिन्न २ हैं" इसप्रकार श्रवण तथा मनन करने से निवृत्त नहीं होसक्ते क्योंकि यह दोनों उसके विरोधी नहीं किन्तु विवेक साक्षातकार ही उसका विरोधी है और विरोधी होने के कारण ही उसकी निवृत्ति होसक्ती है, जैसाकि "यह पूर्व नहीं, पश्चिम है" इस प्रकार के दिग्भ्रम की निवृत्ति श्रवण तथा मननद्वारा नहीं होती किन्तु पूर्व, पश्चिम के

विवेक साक्षात्कार से शीघ्र होजाती है इसी प्रकार उक्त बन्धादि की निवृत्ति के लिये श्रवण, मननादि द्वारा विवेक साक्षात्कार का सम्पादन करना आवश्यक है ।

सं०—ननु, जिन प्रकृति आदि पदार्थों से पुरुष का विवेकज्ञान मोक्ष का कारण है वह सब प्रत्यक्ष नहीं, उनका ज्ञान किस प्रकार होसक्ता है ? उत्तरः—

अचाक्षुषाणामनुमानेनवोधो-
धूमादिभिरिववन्हेः ।६०।

पद०—अचाक्षुषाणाम्।अनुमानेन।वोधः । धूमादिभिः।इव।वह्नेः।

पदा०—(धूमादिभिः) जैसे धूमादि के साक्षात्कार से अनुमान द्वारा (वह्नेः) पर्वत में परोक्ष वह्नि के सद्भाव का ज्ञान होजाता है वैसे ही (अचाक्षुषाणां) जिन प्रकृति आदिकों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं है उनके सद्भाव का ज्ञान भी उनके कार्य्य पृथिव्यादि पांच भूतों के देखने से (अनुमानेन) अनुमान द्वारा होता है ।

भाष्य—यह नियम है कि जो सावयव होता है वह कार्य्य होता है और जो कार्य्य होता है उसका कोई कारण अवश्य होता है क्योंकि कारण के विना कार्य्य नहीं होसक्ता, इसलिये जहां कार्य्य प्रत्यक्ष है और उसका कारण प्रत्यक्ष नहीं वहां अनुमानद्वारा कारण का ज्ञान होता है, जैसाकि धूम और प्रकाश पर्वत में प्रत्यक्ष हैं और उनके कारण वन्हि का प्रत्यक्ष नहीं परन्तु धूम और प्रकाश के देखने से पर्वत में वह्नि के होने का ज्ञान अनुमानद्वारा होजाता है । इसी प्रकार यद्यपि प्रकृत्यादि तत्त्व प्रत्यक्ष नहीं तथापि उनके कार्य्य पृथिव्यादि प्रत्यक्ष हैं, इनके प्रत्यक्ष होने से प्रकृति आदिका अनुमान द्वारा ज्ञान होसक्ता है, कोई बाधा नहीं ।

सं०—ननु, सांख्यशास्त्र में प्रकृति किसको कहते हैं और उस से पृथिव्यादि भूत किस प्रकार उत्पन्न होते हैं और पदार्थ कितने हैं ? उत्तर :—

सत्त्वरजस्तमसांसाम्यावस्थाप्रकृतिः,प्रकृते र्महान्महतोऽहङ्कारः अहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राणयुभयमिन्द्रियंतन्मा त्रभ्यःस्थूलभूतानिपुरुषः इतिपञ्चविंशतिर्गणः।६१।

पद०—सत्त्वरजस्तमसां । साम्यावस्था । प्रकृतिः । प्रकृतेः । महान् । महतः । अहङ्कारः । अहङ्कारात् । पञ्चतन्मात्राणि । उभयम् । इन्द्रियं । तन्मात्रेभ्यः । स्थूलभूतानि । पुरुषः । इति।पञ्चविंशतिः। गणः।

पदा०—(सत्त्वरजस्तमसां) सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों की (साम्यावस्था) सम अवस्था को (प्रकृतिः) प्रकृति कहते हैं (प्रकृतेः) प्रकृति से (महान्) महत्तत्त्व (महतः, अहङ्कारः) हम-त्तत्त्व से अहङ्कार (अहङ्कारात्, पञ्चतन्मात्राणि) अहङ्कार से पञ्च-तन्मात्र और (उभयम्, इन्द्रियम्) दोनों प्रकार के इन्द्रिय तथा (तन्मात्रेभ्यः) पञ्चतन्मात्रों से (स्थूलभूतानि) स्थूलभूत उत्पन्न हुए, और (पुरुषः) पुरुष, यह (पञ्चविंशतिःगणः) पच्चीस पदार्थों का समुदाय है।

भाष्य—सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था अर्थात् समानभाव से रहने का नाम "प्रकृति" है अर्थात् कार्य्य को प्राप्त न होने वाले उक्त तीनों गुणों का नाम "प्रकृति" है, जो

अन्य पदार्थों का उपादानकारण हो अर्थात् जिससे पदार्थों की उत्पत्ति हो उसको "प्रकृति" कहते हैं। प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त और उक्त तीनों गुणों की साम्यावस्था, यह सब पर्य्याय शब्द हैं। प्रकृति से महत्तत्त्व = बुद्धितत्त्व अर्थात् प्रकृति का प्रथम कार्य्य उत्पन्न हुआ, महत्तत्त्व से अहङ्कार = बुद्धितत्त्व का एक विशेष परिणाम, अहङ्कार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह पञ्चतन्मात्र, और श्रोत्र, त्वक् चक्षु, जिह्वा, घ्राण यह पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, यह पांच कर्मेन्द्रिय और मन उत्पन्न हुआ, सांख्य सिद्धान्त में उक्त दशों को बाह्येन्द्रिय और मन को आभ्यन्तर इन्द्रिय कहते हैं और शब्दादि पञ्चतन्मात्रों से यथाक्रम आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, यह पांच स्थूलभूत उत्पन्न हुए, पुरुष शब्द से जीव ईश्वर दोनों का ग्रहण है, पुरुष न किसी का कारण और न कार्य्य है, उसका ग्रहण यहां केवल सांख्य मत में माने हुए तत्त्वों की संख्या पूरा करने के लिये है, इस प्रकार सांख्य मत में पञ्चविंशति तत्त्व माने हैं।

सं०-अब प्रकृति के कार्य्य कारण भाव का कथन करते हैं अर्थात् किस कार्य्य से किस कारण का अनुमान होता है:-

स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य। ६२।

पद०-स्थूलात्। पञ्चतन्मात्रस्य।

पदा०-(स्थूलात्) स्थूल से (पञ्चतन्मात्रस्य) पञ्चतन्मात्र का अनुमान होता है।

भाष्य-जिन पदार्थों के गुणों का बाह्यइन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है वह "स्थूल" और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनको "पञ्चतन्मात्र" कहते हैं। कार्य्यरूप पृथिवी आदि स्थूल भूतों से शब्दादि

पञ्चतन्मात्र सूक्ष्मरूप कारण का अनुमान होता है कि अमुक २ कारण से अमुक २ पदार्थ की उत्पत्ति होती है, इसी अनुमान को "सामान्यतोदृष्ट" कहते हैं।

वाह्याभ्यन्तराभ्यांतैश्चाहङ्कारस्य । ६३ ।

पद०-वाह्याभ्यन्तराभ्यां । तैः । च । अहङ्कारस्य ।

पदा०-(वाह्याभ्यन्तराभ्यां) वाह्य तथा आभ्यन्तर इन्द्रियों से (च) और (तैः) पञ्चतन्मात्रों, से (अहङ्कारस्य) अहङ्कार का अनुमान होता है।

भाष्य-इन्द्रिय तथा तन्मात्राएं अहङ्कार का कार्य्य होने से इनके द्वारा अहङ्कार का अनुमान होता है ।

तेनान्तःकरणस्य । ६४ ।

पद०-तेन । अन्तःकरणस्य ।

पदा०-(तेन) अहङ्कार से (अन्तःकरणस्य) अन्तःकरण का अनुमान होता है ।

भाष्य-अहङ्कार रूप कार्य्य से उसके कारण महत्तत्व बुद्धि का अनुमान होता है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, इस भेदसे अन्तःकरण चार प्रकार का है और वह बुद्धिकी एक अवस्था है अतएव मन आदि बुद्धि से पृथक् नहीं । बुद्धिसत्त्व ही उस २ अवस्था को प्राप्त हुआ मन आदि नाम से कहाजाता है, जब सङ्कल्प करता है तब "मन" जब निश्चय करताहै तब "बुद्धि" जब चिन्तन करता है तब "चित्त" जब अहं करता है तब "अहङ्कार" कहा जाता है ।

ततःप्रकृतेः । ६५ ।

पद०—ततः । प्रकृतेः ।

पदा०—(ततः) अन्तःकरणरूप कार्य्य से (प्रकृतेः) प्रकृति का अनुमान होता है ।

संहतपरार्थत्वात्पुरुषस्य । ६६ ।

पद०—संहतपरार्थत्वात् । पुरुषस्य ।

पदा०—(संहतपरार्थत्वात्) संघात के परार्थ = दूसरे के लिये होने से (पुरुषस्य) पुरुष का अनुमान होता है ।

भाष्य—प्रकृति और प्रकृति के कार्य्यों की परस्पर मिलावट को संहत = संघात कहते हैं, जो २ संघात होता है वह परार्थ = अन्य ही के लिये होता है जैसाकि शय्या, आसन, गृह आदि पदार्थों का संघात अपने से पृथक् किसी अन्य भोक्ता के लिये होता है, जैसाकि एक उत्तम शय्या बिछी हुई है तो उससे यही अनुमान होगा कि यह किसी मनुष्य के शयन करने के लिये है इसी प्रकार प्रकृति आदि पदार्थों का संघात भी अपने से भिन्न भोक्ता का अनुमान कराता है ।

सं०—प्रकृति ही सबका कारण है प्रकृति का कोई कारण नहीं इसमें क्या प्रमाण ? उत्तर :—

मूलेमूलाभावादमूलंमूलम् । ६७ ।

पद०—मूले । मूलाभावात । अमूलं । मूलम् ।

पदा०—(मूले) मूल कारण में (मूलाभावात) कारणका अभाव होने से (मूलं) मूलकारण (अमूलं) कारण से रहित होता है ।

भाष्य—कारण का कारण न होने के कारण कारण को

अमूल = कारण रहित कथन किया है। महत्तत्त्व से लेकर सब कार्य्यों का मूलकारण = उपादान कारण प्रकृति है, उसका कोई कारण नहीं यदि उसका भी कारण मानें तो अनवस्था दोष आजायगा अर्थात् किसी एक कारण पर स्थिति न होगी, अतएव प्रकृति अमूल अर्थात् कारणरहित है।

सं०–अनवस्था बनी रहे परन्तु जो बात युक्ति सिद्ध है उसका परित्याग क्यों कियाजाय ? उत्तर :—

पारम्पर्य्येऽप्येकत्रपरिनिष्ठेति संज्ञामात्रम्। ६८।

पद०–पारम्पर्य्ये। अपि।एकत्र। परिनिष्ठा। इति। संज्ञामात्रम्।

पदा०–(पारम्पर्य्ये) परम्परा के मानने पर (अपि) भी (एकत्र, परिनिष्ठा, इति) अन्त में एकपर ठहरने से (संज्ञामात्रम्) नाममात्र का भेद है।

भाष्य–इस सूत्र में पूर्वपक्षी का कथन यह है कि कारण का भी कारण लोक में देखाजाता है जैसाकि घटका कारण मृतिका और मृतिका का कारण परमाणु,इसीप्रकार प्रकृति का अन्य प्रकृति कारण होसक्ता है, इसका समाधान इस प्रकार है कि यदि प्रकृति का कारण मानाजाय तो उस कारण का भी कोई अन्य कारण मानना पड़ेगा और फिर उसका भी, इस प्रकार की परम्परा से अनवस्था दोष बने रहने के कारण इष्टसिद्धि नहीं होगी और इष्टसिद्धि न होने से किसी कारण में अन्तस्थिति माननी पड़ेगी, जहां आप अन्तस्थिति मानेंगे वही हमारे मत में "प्रकृति" है।

सं०–अब अन्य हेतु कहते हैं :–

समानःप्रकृतेर्द्वयोः।६९।

पद०—समानः। प्रकृतेः। द्वयोः।

पदा०—(द्वयोः) दोनों को (प्रकृतेः) प्रकृति का मानना (समानः) तुल्य है।

भाष्य—वादि प्रतिवादि दोनों ने मूलकारण प्रकृति का मानना समान स्वीकार किया है अतएव यह विषय विवाद रहित है।

सं०—जब प्रकृति पुरुष की अनुमान द्वारा सिद्धि होगई तो विवेकज्ञान भी शास्त्रश्रवणमात्र से ही सबको होजाना चाहिये? उत्तर :—

अधिकारित्रैविध्यान्ननियमः।७०।

पद०—अधिकारित्रैविध्यात्। न। नियमः।

पदा०—(अधिकारित्रैविध्यात्) अधिकारियों की विचित्रतासे यह (नियमः) नियम (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य—मन्द, मध्यम, उत्तम, भेद से अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं, इसलिये शास्त्र के श्रवणमात्रसे सबको विवेकज्ञान नहीं होसक्ता, केवल उत्तम अधिकारी को ही श्रवणद्वारा अवाधित विवेक होता है।

सं०—पूर्व ६१वें सूत्र में प्रकृत्यादिकों का कार्य्यकारणभाव निरूपण किया परन्तु उनका क्रम कथन नहीं किया कि किस कारण से कौनसा कार्य्य प्रथम हुआ, अब उस क्रम को दिखलाने के लिये कार्य्य के क्रम प्रकरण का आरम्भ करते हैं :—

महदाख्यमाद्यकार्य्यं तन्मनः।७१।

पद०—महदाख्यम्। आद्यकार्य्यं। तन्मनः।

पदा०-(महदाख्यम्) महत्तत्त्व (आद्यकार्य्य) प्रथम कार्य्य है और वह (तन्मनः) बुद्धिसत्त्व है।

भाष्य-प्रकृति का प्रथम कार्य्य महत्तत्त्व है और वह निश्चयात्मक होने से बुद्धिसत्त्व कहलाता है।

चरमोऽहंकारः ।७२।

पद०-चरमः । अहङ्कारः ।

पदा०(चरमः) दूसरा (अहङ्कारः) अहङ्कार है।

भाष्य-महत्तत्त्व के अनन्तर दूसरा कार्य्य अहङ्कार है अर्थात् महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है जिसका पूर्व वर्णन कर आए हैं।

तत्कार्य्यत्वमुत्तरेषाम् । ७३ ।

पद०-तत्कार्य्यत्वम् । उत्तरेषाम् ।

पदा०-(तत्कार्य्यत्वम्) अहङ्कार का कार्य्य (उत्तरेषाम्) एकादश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्र हैं।

सं०-जब इस प्रकार से कार्य्य कारणभाव का क्रम है तो सब पदार्थों को प्रकृति का कार्य्य कहना ठीक नहीं ? उत्तर :-

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्य्येऽप्यणुवत् । ७४ ।

पद०-आद्यहेतुता । तद्द्वारा । पारम्पर्य्ये । अपि । अणुवत् ।

पदा०-(पारम्पर्य्ये, अपि) परम्परा मे कारण होने पर भी (तद्द्वारा) उनके द्वारा (अणुवत्) परमाणुकीभांती (आद्यहेतुता) पहला कारण प्रकृति है।

भाष्य-यद्यपि प्रकृति अहङ्कारादि पदार्थों का साक्षात् कारण

नहीं तथापि महत्तत्त्वादि द्वारा परम्परा सम्बन्ध से सब पदार्थों का कारण है जैसाकि वैशेषिक के मत में द्व्यणुक द्वारा परमाणु सब पदार्थों का कारण माना है इसी प्रकार प्रकृति का सब कार्य्यों का कारण मानने में कोई बाधा नहीं ।

सं०-जब प्रकृति, पुरुष दोनों अनादि और नित्य हैं और सब कार्य्यों से पूर्वक्षण में विद्यमान हैं तो प्रकृति ही जगत् का कारण है पुरुष क्यों नहीं ? उत्तर :-

पूर्वभावित्वेद्वयोरेकतरस्य-हानेऽन्यतरयोगः। ७८।

पद०-पूर्वभावित्वे । द्वयोः । एकतरस्य । हाने । अन्यतरयोगः ।

पदा०-(द्वयोः) दोनों के (पूर्वभावित्वे) पूर्वहोनेपर (एकतरस्य) एकको (हाने) परिणामी न होने से (अन्यतरयोगः) दूसरा कारण है ।

भाष्य-यद्यपि प्रकृति, पुरुष दोनों अनादि तथा कार्य्यमात्र के पूर्व विद्यमान हैं तथापि पुरुष जगत् का उपादान कारण नहीं होसक्ता क्योंकि वह परिणामी नहीं है यदि पुरुष को जगत् का उपादान कारण मानें तो वह परिणामी होने से कूटस्थ नित्य नहीं रहेगा, अतएव पुरुष से भिन्न प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है और वह परिणामी है इसीविषय को महर्षिव्यास ने समाधिपाद द्वितीय सूत्र के भाष्य में इस प्रकार स्फुट किया है कि **चितिशक्तिरपरिणामिनी,अप्रतिसङ्क्रमा** = पुरुष अपरिणामी है और अपरिणामी होने से अन्य वस्तु में उसका सञ्चार नहीं होता और उपादान कारण अवश्य परिणामी होता है अतएव पुरुष को

उपादान कारण मानना ठीक नहीं ।

सं०—ननु,कोई परिच्छिन्न पदार्थ बटबीजके समान कारण मानलो, इतनी बड़ी प्रकृति को कारण मानने से क्या लाभ ? उत्तर :-

परिच्छिन्नंनसर्वोपादानम् । ७६ ।

पद०— परिच्छिन्नम् । न । सर्वोपादानम् ।

पदा०—(परिच्छिन्नम्) एकदेशी (सर्वोपादानम्) सबका उपादान कारण (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—एक देशी मृतिकाआदि पदार्थ घटादि कार्य्यों के उपादान कारण होते हैं परन्तु परिच्छिन्न = एकदेशी महत्तत्त्वादि का उपादान कारण नहीं होसक्ता, इसी प्रकार यदि प्रकृति भी मृतिका आदि के समान अल्प होती तो इस सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण न होती, अतएव महत्तत्त्वादि का कारण होने से प्रकृति परिच्छिन्न नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि छोटे पदार्थ की अपेक्षा से प्रकृति को अपरिच्छिन्न कहा है, इसका यह भाव नहीं कि प्रकृति विभु है, क्योंकि वैदिक सिद्धान्त में एक परमात्मा ही विभु है अन्य सब पदार्थ उसके एक देश में हैं जैसाकि "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" यजु० ३१ । ३ इस वेद मंत्र में सब पदार्थों को एकदेशी कथन किया है ।

सं०—अब अल्प पदार्थ के उपादानकारण न होने में अन्य हेतु कथन करते हैं :-

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च । ७७ ।

पद०—तदुत्पत्तिश्रुतेः । च ।

पदा०-(च) और (तदुत्पत्तिश्रुतेः) परिच्छिन्न की उत्पत्ति सुने जाने से।

भाष्य-'**तद्धेदंतर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेवव्याक्रियत**' वृहदा० १।४।७ इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट प्रकार से पायाजाता है कि सृष्टि के पूर्वकाल में अव्याकृत = प्रकृति जगत् का उपादानकारण विद्यमान था वही सृष्टिकाल में नामरूप से परिणामभाव को प्राप्त हुआ, इस प्रमाण द्वारा प्रकृति से भिन्न परिच्छिन्न पदार्थों की उत्पत्ति प्रकृति कारण से सुनी जाती है, अतएव प्रकृति से भिन्न कोई अन्य पदार्थ जगत् का उपादानकारण नहीं होसक्ता।

सं०-ननु, आनिर्वचनीय अविद्या ही जगत् का उपादान कारण मानी जाय तो क्या हानि? उत्तर:-

नावस्तुनोवस्तुसिद्धिः। ७८।

पद०-न। अवस्तुनः। वस्तुसिद्धिः।

पदा०-(अवस्तुनः) अवस्तुभूत अविद्या से (वस्तुसिद्धिः) भावपदार्थ की सिद्धि (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य-जहां २ पदार्थों का कार्य्यकारण भाव देखाजाता है वहां समानरूपता पाई जाती है जैसाकि मृत्तिका से जो घटादि कार्य्य उत्पन्न होते हैं उनमें कारण के धर्म देखे जाते हैं परन्तु अवस्तुभूत अविद्या से किसी भावपदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती यदि हो तो अवस्तुभूतरूप अविद्या के कार्य्य भी अनिर्वचनीय होने चाहियें परन्तु सम्पूर्ण पदार्थ अनिर्वचनीय नहीं, अतएव अनिर्वचनीय पदार्थ जगत् का कारण नहीं होसक्ता।

सं०-ननु, यह सम्पूर्ण जगत् भी अनिर्वचनीय है तो फिर इसका अनिर्वचनीय कारण मानने में क्या दोष? उत्तर:-

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्चनावस्तुत्वम् । ७९ ।

पद०—अबाधात् । अदुष्टकारणजन्यत्वात् । च । न । अवस्तुत्वम् ।

पदा०—(अबाधात्) बाध न होने से (च) और (अदुष्टकारण-जन्यत्वात्) दुष्टकारणजन्य न होने से (अवस्तुत्वम्) जगत् अनिर्वच-नीय (न) नहीं है ।

भाष्य—जहां शुक्ति में इदंरजतम् = यह चांदी है, ऐसा भ्रम-ज्ञान होता है वहां शुक्ति के ज्ञान से नेदंरजतम् = यह चांदी नहीं, इस प्रकार से सीपी में चांदी के ज्ञान की निवृत्ति होजाती है । यदि जगत्भी शुक्ति में रजत की भांति अवस्तुरूप होता तो जिस प्रकार ज्ञान द्वारा शुक्ति में रजत का अभाव प्रतित होता है इसी प्रकार जगत् का भी अभाव प्रतीत होता, परन्तु ऐसा न होने से जगत् अनिर्वचनीय नहीं ।

दूसरी बात यह है कि जैसे नेत्र दोष से शंख में पीलापन प्रतीत होता है और जब वह दोष निवृत्त होजाता है तब पीलापन भी नष्ट होजाता है, इस प्रकार संसार की उत्पत्ति किसी दुष्ट अर्थात् मिथ्या कारणजन्य नहीं ।

सं०—अवस्तुभूत कारण से उत्पन्न हुए जगत् को वस्तुभूत मानने में क्या दोष है ? उत्तर :—

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात्कुतस्तरां तत्सिद्धिः । ८० ।

पद०—भावे । तद्योगेन । तत्सिद्धिः । अभावे । तदभावात् । कुतस्तरां । तत्सिद्धिः ।

पदा०-(भावे) कारण के भावरूप होने पर (तद्योगेन) उसके साथ सम्बन्ध होने से (तत्सिद्धिः) भावरूप कार्य्य की सिद्धि होती है और (अभावे) कारण के अभाव रूप होने पर (तदभावात्) उसका सम्बन्ध न होने से (कुतस्तरां) किस प्रकार (तत्सिद्धिः) उसकी सिद्धि हो सकती है।

भाष्य-यह नियम है कि जैसा गुण कारण में होगा वैसाही कार्य्य में होगा अर्थात् भावरूप कारण के सम्बन्ध से भावरूप कार्य्य ही उत्पन्न होता है क्योंकि उपादानकारण में होनेवाला भावत्वधर्म कार्य्य में भी अनुगत रहता है। अभावरूप कारण के सम्बन्ध से भावरूप कार्य्य कभी नहीं होसकता क्योंकि भाव, अभाव का परस्पर सम्बन्ध नहीं।

सं०-अब कर्म कारणवादि शङ्का करता है कि आवश्यक होने से कर्म को ही जगत् का कारण मानना ठीक है, प्रकृति की कल्पना निष्फल है? उत्तर :-

न कर्मण उपादानत्वयोगात्।८१।

पद०- न। कर्मणः। उपादानत्वयोगात्।

पदा०-(उपादानत्वयोगात्) उपादानत्व न होने के कारण (कर्मणः) कर्म से जगदुत्पत्ति (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य-यहां कर्म शब्द से धर्माधर्मरूप अदृष्ट का ग्रहण होने से कर्म निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं, अतएव इससे जगत् की उत्पत्ति होना असम्भव है।

द्वितीय कारण यह है कि प्रकृति द्वारा द्रव्य से पदार्थों की उत्पत्ति होती है परन्तु कर्म द्रव्य न होने के कारण उससे जगत् की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं।

सं०–ननु, केवल कर्मों से ही मुक्ति सिद्ध होजायगी फिर प्रकृति पुरुष के विवेक को मोक्ष का साधन मानने की क्या आवश्यक्ता है ? उत्तर :–

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् । ८२ ।

पद०–न । आनुश्रविकात् । अपि । तत्सिद्धिः । साध्यत्वेन । आवृत्तियोगात् । अपुरुषार्थत्वम् ।

पदा०–(आनुश्रविकात्, अपि) कर्मों से भी (तत्सिद्धिः) मोक्ष की सिद्धि (न) नहीं होसक्ती क्योंकि (साध्यत्वेन) कर्मों का फल साधनजन्य होनेसे (आवृत्तियोगात्) बारम्बार आवृत्ति करने योग्य होता है, इसलिये (अपुरुषार्थत्वम्) कर्मजन्य मुक्तिरूपफल पुरुषार्थ नहीं होसक्ता ।

भाष्य–यदि केवल कर्मों से मोक्षकी सिद्धि मानी जाय तो यह दोष आता है कि कर्मजन्यपदार्थ आवृत्तिवाला होता है अर्थात् उस पदार्थ का वार२ अभ्यास कियाजाय तब वह स्थिर रहता है अन्यथा नहीं, जैसाकि किसी पुरुष ने वेदाभ्यास से कई एक सूक्त कण्ठ करलिये पर वह तभी कण्ठ रहसक्ते हैं जब उनकी बारम्बार आवृत्ति कीजाय, इसीप्रकार यदि मोक्षसुख भी कर्मजन्य मानाजाय तो उसकी भी बारम्बार आवृत्ति करनी पड़ेगी और आवृत्ति करने से उसमें एकरस न रहने का दोष आजायगा, इसलिये मुक्तिको कर्मजन्य मानना ठीक नहीं ।

सं०–ननु, यदि मुक्ति को कर्मजन्य न मानाजाय तो उसका अन्यसाधन क्या है ? उत्तर :—

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः । ८३ ।

पद०–तत्र । प्राप्तविवेकस्य । अनावृत्तिश्रुतिः ।

पदा०–(तत्र) उनकर्मों में (प्राप्तविवेकस्य) प्राप्त हुआ है विवेक जिसको उस पुरुष की (अनावृत्तिश्रुतिः) अनावृत्तिरूप मुक्ति का श्रवण है ।

भाष्य–कर्म और ज्ञान यह दोनों मिलकर मुक्ति के साधन हैं केवल कर्म नहीं क्योंकि कर्मजन्यपदार्थ बार २ आवर्त्तन करने योग्य होता है इसलिये उसको किसी ऐसे साधन की आवश्यकता है जिससे वह स्थिर होजाय और वह स्थिरता विना ज्ञान नहीं होसकती, इस लिये इससूत्र में विवेक का कथन किया है ।

तात्पर्य्य यह है कि कर्म और ज्ञान दोनों मिलकर मुक्ति के साधन होते हैं, जैसाकि "तमेतंब्राह्मणाविविदिषन्तियज्ञेनदानेन-कर्मणाऽनाशकेन" बृहदा० ६। ४। २२ इत्यादि वाक्यों में प्रतिपादन किया है कि ज्ञान और कर्म से ही ब्राह्मणलोग उस परमात्मा की प्राप्तिरूप मुक्ति की इच्छा करते हैं ।

सं०–ननु, फिर केवल कर्मों का क्या फल हुआ ? उत्तर :—

दुःखाद्दुःखंजलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः । ८४ ।

पद०–दुःखात् । दुःखं । जलाभिषेकवत् । न । जाड्यविमोकः ।

पदा०–(जलाभिषेकवत्) जलके स्नानके समान (दुःखात्,दुःखं) दुःख से फिर दुःख होता है (जाड्यविमोकः) अज्ञान की निवृत्ति (न) नहीं होती ।

भाष्य–जैसे एक वार स्नान करने से मल निवृत्त हो जाता है और फिर मलकी निवृत्ति के लिये दूसरे दिन स्नान करना पड़ता है,

इसी प्रकार श्रवण, मननादि कर्मों से निवृत हुआ अज्ञान शारीरक मल के समान फिर होजाता है और उक्त कर्मों द्वारा फिर उसको दूरकरना पड़ता है, इसीलिये कहा है कि दुःखात्,दुःखम् = दुःख निवृत्ति के अनन्तर फिर दुःख होजाता है, यहां निवृत्ति पद का अध्याहार कर लेना ।

तात्पर्य्य यह है कि कर्मजन्य अज्ञान की निवृत्ति कर्मों द्वारा हो जाती है पर वह निवृत्ति पूर्णरीति से न होने के कारण शारीरक मल के समान कर्मरूपी स्नान से फिर दूर करनी पड़ती है, इसलिये केवलकर्म अज्ञान निवृत्तिरूप मुक्ति के कारण नहीं हो सकते किन्तु ज्ञान और कर्म दोनों ही मिलकर मुक्ति के कारण होते हैं जैसाकि "विद्यांचाऽविद्यांचयस्तद्वेदोभयꣳसह" यजु० ४० । १४ इत्यादि वेद मंत्रों में वर्णन किया है कि कर्म और ज्ञान के समुच्चय से ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है ।

सं०—ननु, केवल काम्य कर्मों से मुक्ति की प्राप्ति नहो पर निष्काम कर्मोंद्वारा तो हो सकती है ? उत्तर :—

काम्येऽकाम्येऽपिसाध्यत्वाविशेषात् । ८५ ।

पद०—काम्ये । अकाम्ये । अपि । साध्यत्वाविशेषात् ।

पदा०—(काम्ये) काम्य कर्मों में और (अकाम्ये,अपि) निष्काम कर्मों में भी (साध्यत्वाविशेषात्) अज्ञान निवृत्ति की समानता पाए जाने से ।

भाष्य—जिस प्रकार केवल काम्य कर्मों से मुक्ति नहीं होती इसी प्रकार निष्काम कर्मों से भी नहीं हो सकती क्योंकि अज्ञान निवृत्ति की सिद्धि उक्त दोनों साधनों से समान पाई जाती है अर्थात् निष्काम कर्म भी अज्ञान निवृत्ति को उत्पन्न करते हैं, अनावृत्तिरूप

मुक्ति जिसमें ब्रह्म के ध्यान का बारम्बार अभ्यास नहीं करना पड़ता अर्थात् जिस अवस्था में स्वतःसिद्ध ब्रह्मानन्द का अवभास होता रहता है ऐसी अवस्था ज्ञान और कर्म के समुच्चय से ही उपलब्ध हो सक्ती है केवल कर्म से नहीं।

सं०—ननु, जब कर्म से अज्ञान निवृत्ति होजाती है तो फिर ज्ञान में क्या विशषता है? उत्तर :—

निजमुक्तस्यबन्धध्वंसमात्रंपरंन समानत्वम्। ८६।

पद०—निजमुक्तस्य। बन्धध्वंसमात्रं। परम्। न। समानत्वम्।

पदा०—(निजमुक्तस्य) ज्ञान से मुक्त पुरुष के (बन्धध्वंसमात्रं) बन्धन का नाश ही (परं) मुक्ति (न) नहीं, किन्तु (समानत्वं) ब्रह्म के सदृश हो जाना मुक्ति है।

भाष्य—जो पुरुष ज्ञान से मुक्त होता है उसकी मुक्ति बन्धन का नाश मात्र ही नहीं होती किन्तु वह पुरुष ब्रह्म के धर्मों को धारण करके उसके समान होजाता है अर्थात् वह ब्रह्म के भावों को प्राप्त करलेता है जैसाकि "निरञ्जनःपरमं साम्यमुपैति" मुण्डक० ३।३ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि मुक्त पुरुष ब्रह्म के सदृश होजाता है और इसी बात को "विद्ययाऽमृतमश्नुते" यजु० ४०। १४ इत्यादि वेद मंत्रों में कथन किया है कि ज्ञान से ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है। इस प्रकार आनन्दोपभोग में ब्रह्म के साथ समता पाए जाने से ज्ञानद्वारा मुक्तपुरुष की अज्ञान निवृतिमात्र ही नहीं होती किन्तु परमानन्द की प्राप्ति भी होती है।

सं०—अस्तु, ज्ञान और कर्म के समुच्चय से ही मुक्ति हो पर बिना

प्रमाणोपदेश के मुक्तिरूप प्रमा की सिद्धि कैसे ? इस आक्षेप सङ्गति से अब प्रमाणों का निरूपण करते हैं :—

द्वयोरेकतरस्यवाऽप्यसन्निकृष्टार्थ परिच्छित्तिःप्रमा तत्साधकतमं यत्तत्त्रिविधंप्रमाणम् ।८७।

पद०—द्वयोः । एकतरस्य । वा । अपि । असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः । प्रमा । तत्साधकतमं । यत् । तत् । त्रिविधं । प्रमाणम् ।

पदा०—(असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः) अज्ञात विषय के निश्चय करने को (प्रमा) यथार्थज्ञान कहते हैं और वह (द्वयोः) बुद्धि पुरुष दोनों का (एकतरस्य, वा, अपि) अथवा उनमें से किसी एक का धर्म है (तत्साधकतमं, यत्)उस प्रमा का जो अतिसाधक कारण है (तत् , प्रमाणम्) उसको प्रमाण कहते हैं, और वह प्रमाण (त्रिविधं) तीन प्रकार का है ।

भाष्य—"अनधिगतबाधितार्थविषयज्ञानत्वम्" अनधिगत = अज्ञात, अबाधितार्थ = जिसकी ज्ञान के उत्तर काल में निवृत्ति न हो, इस प्रकार के अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान का नाम "प्रमा" है, और प्रमा के असाधारण कारण का नाम 'प्रमाण' है । स्मृति में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ उक्त लक्षण में "अनधिगत" पद दिया है और मिथ्याज्ञान से पृथक् करने के लिये "अबाधितार्थ" पद दिया है, और इसी पद से यथार्थ वस्तु का ग्रहण होता है इसलिये सूत्रकार ने "असन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिःप्रमा" कहा है अर्थात् असन्निकृष्टार्थ = जो पुरुष को प्रथम ज्ञात नहो ऐसी वस्तु के यथार्थ परिच्छित्तिः = निश्चय को "प्रमा" कहते हैं और इसके

अत्यन्त साधक कारण को "**प्रमाण**" कहते हैं, यह प्रमाण का सामान्य लक्षण है। सांख्यसिद्धान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, इसभेद से प्रमाण तीन प्रकार के हैं और इन्हीं से दृष्टादृष्ट सम्पूर्ण विषयों की सिद्धि होती है, इसबात को आगे १०२ और १०३ सूत्रों में निरूपण करेंगे, जैसे कुठार का फल छिदि क्रिया है इसी प्रकार प्रमाण का फल प्रमा है, यह प्रमारूप फल बुद्धि वा पुरुष में अथवा दोनों में होता है, यदि प्रमारूप फल को बुद्धि में मानें तो बुद्धि प्रमात्री अर्थात् प्रमाज्ञान का आश्रय होती है और बुद्ध्युपहित पुरुष साक्षी होता है, अयंघटः, अयंघटः, यह घट है, यह घट है, इस आकार वाली बुद्धि = अन्तःकरण की वृत्ति "**प्रमा**" है और चक्षुरादि इन्द्रिय "**प्रमाण**" हैं और जिस पक्ष में प्रमारूप फल को पुरुषनिष्ठ मानते हैं उस पक्ष में बुद्ध्युपरक्त पुरुष को प्रमाता कहते हैं और बुद्ध्युपहित पुरुष साक्षी है, घटमहंजानामि, घटमहंजानामि = मैं घट को जानता हूं, मैं घटको जानता हूं, इस प्रकार घटादि विषयों के सम्बन्ध वाला बुद्धि-वृत्तिको विषय करता हुआ जो ज्ञान है उसीका नाम "**प्रमा**" है। इसी ज्ञान को नैयायिकों ने "**अनुव्यवसाय**"* माना है, और जिसपक्ष में अयंघटः, अयंपटः, इस प्रकार बुद्धिकी वृत्ति को प्रमाण कहते हैं उस पक्ष में चक्षुरादि इन्द्रिय मुख्य प्रमाण नहीं किन्तु बुद्धिवृत्ति मुख्यप्रमाण है, यदि प्रमारूपफल बुद्धि, पुरुष दोनों में होनेवाला मानाजाय तो दोनों मिले हुए ही प्रमाता कहलाते हैं, इसी प्रकार प्रमाणादि भी जानने चाहियें।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि महर्षिकपिल ने सूत्र में प्रमा के

*ज्ञान के ज्ञान का नाम अनुव्यवसाय है।

स्वरूप में दो भेद कथन किये हैं तथापि "**पौरुषेयवोध**" को प्रमा मानना ही मुख्य सिद्धान्त है क्योंकि सब प्रमाणों की प्रवृत्ति पुरुष के लिये है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि "पौरुषेयवोध" शब्द से पुरुष की वृत्ति का ग्रहण नहीं क्योंकि पुरुष अपरिणामी है और वृत्ति एक प्रकार के परिणाम का नाम है ।

यदि बुद्धिवृत्तिद्वारा पुरुष में उत्पन्न हुए किसी धर्म को उक्त शब्द से मानाजाय तो धर्मरहित पुरुष को धर्मी मानने से सिद्धान्त हानि होगी तथा पुरुष में परिणामित्व भी बना रहेगा अतःउक्त पद का यही तात्पर्य्य है कि बुद्ध्युपरक्त तथा विषय के समानाकार बुद्धिवृत्ति से विषयाकार हुआ विषय तथा बुद्धि का प्रकाशक जो चैतन्य है उसको "**पौरुषेयवोध**" कहते हैं और उसीका नाम "**फलचैतन्य**" है ।

वास्तव में घटोऽयं, पटोऽयम्" यहज्ञान बुद्धि की वृत्ति रूप है, परन्तु पुरुष और बुद्धि के परस्पराध्यास के कारण भेद की प्रतीति न होने से उस वृत्ति ज्ञान का पुरुष में औपचारिक व्यवहार होता है, इसी आशय से महर्षिव्यास ने "**फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिवोधः**" योग० १ । ७ के भाष्य में कहा है कि बुद्धिवृत्त्युपरक्त पौरुषेय बोध ही प्रमा है और इसी आशय को वाचस्पति मिश्र ने उक्त भाष्य की टीका में स्पष्ट किया है, और इसी अर्थ को पञ्चशिखाचार्य्य इस प्रकार स्फुट करते हैं कि "**प्राप्त चैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टाहि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यापत** = केवल पुरुषोप-

रक्त विषय के समानाकार बुद्धिवृत्ति को प्रमा कहते हैं। प्रमा, पौरुषेयबोध, यह पर्य्यायवाची शब्द हैं।

सं०—ननु, उपमानादि अन्य प्रमाण भी हैं फिर तीन ही प्रमाण मानना ठीक नहीं ? उत्तर :—

तत्सिद्धौसर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः। ८८।

पद०—तत्सिद्धौ। सर्वसिद्धेः। न। आधिक्यसिद्धिः।

पदा०—(तत्सिद्धौ) तीनों प्रमाणों की सिद्धि में (सर्वसिद्धेः) सब प्रमाणों की सिद्धि होने से (आधिक्यसिद्धिः) अधिक प्रमाणों की सिद्धि (न) नहीं है।

भाष्य—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, इन्हीं तीन प्रमाणों द्वारा सब विषयों की सिद्धि हो जाने से अन्य सब प्रमाण इन्हीं के अन्तर्गत हैं, इसलिये अधिक प्रमाणों का मानना गौरव मात्र है, योगशास्त्र में भी "प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि" योग० १।७ इस सूत्र में वर्णित तीन ही प्रमाण माने हैं और मनुजी ने भी—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता। म० १२।१०५

इस श्लोक में यही भाव प्रकट किया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, यह तीन ही प्रमाण हैं और उपमानादि इन्हीं तीनों के अंतर्गत हैं, संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति के साधन को "उपमान" कहते हैं जैसाकि "गोसदृशो गवयः" = गो के सदृश गवय होता है, यह उपमानप्रमाण शब्द प्रमाण से पृथक् नहीं "प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्" न्या० १।१।६ = प्रसिद्ध = पूर्वज्ञात वस्तु के सादृश्य = समान धर्म द्वारा साध्य =

उपमेय के साधन को उपमान कहते हैं । जैसाकि गवय शब्द के वाच्यार्थ को न जानने वाले नगरनिवासी पुरुष ने किसी बन-वासी पुरुष से पूछा कि गवयःकीदृशः = गवय कैसा होता है, तब बनवासी ने कहाकि गोसदृशोगवयः = गौ के सदृश गवय होता है, इस प्रकार बनवासी के वाक्य को सुनकर नगर निवासी पुरुष ने बन में जाकर गो सदृश व्यक्ति को देखा और "गोसदृशोगवयः" इस वाक्यार्थ के स्मरण से उसको "अयंगवयपदवाच्यः = यह पशु गवय पद का वाच्यार्थ है अर्थात् इस पशु की गवय संज्ञा है, इस बोध का नाम "उपमिति" है और उपमिति के असाधारण कारण को "उपमान" कहते हैं, इसी का नाम "सादृश्यज्ञान" है । सांख्यसिद्धान्त में इस उपमान प्रमाण का उक्त तीनों प्रमाणों में अन्तर्भाव होजाता है अर्थात् "यथागौस्तथागवयः" इस वाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान शब्द प्रमाण जन्य ज्ञान से भिन्न नहीं ।

और जो उक्त वाक्य श्रवण के अनन्तर नगरनिवासी को यह बोध होता है कि "गवयशब्दोगोसदृशस्यवाचकः = गवय शब्द गौ सदृश पशु का वाचक है, यह अनुमानरूप होता है, अनु-मान का प्रकार यह है कि "गवयशब्दोगोसदृशस्यवाचकः असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्रप्रयुक्तत्वात् -गवय शब्द गो सदृश पशु का वाचक है क्योंकि वृद्धपुरुषों का ऐसा व्यवहार देखाजाताहै।

और जो चक्षुः संयुक्त गवय में गौ की सदृशता का भान होता है यह प्रत्यक्षरूप है अर्थात् गौ के स्मरण से गवयनिष्ठ सादृश्यज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जिस प्रकार गौ में सादृश्य का प्रत्यक्ष माना है इसी प्रकार गवय में भी सादृश्य का प्रत्यक्ष जानना चाहिये ।

तात्पर्य्य यह है कि उपमानोपमेय के भेद सहित समानधर्मरूप सादृश्य का गौ तथा गवय में प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार उपमान प्रमाण को पृथक् मानने की अवश्यकता नहीं।

अर्थापत्तिप्रमाण के अन्तर्भाव होने का प्रकार यह है कि अर्थापत्ति शब्दप्रमाण तथा प्रमा का वाचक है "अर्थस्यापत्तिर्यस्मात् सोऽर्थापत्तिः = जो वस्तु अर्थ से ज्ञात हो उसका नाम अर्थापत्ति है अर्थात् "उपपादककल्पनाहेतुभूतमुपपाद्यानुपपत्तिज्ञानमर्थापत्तिःप्रमाणम् = उपपादक * कल्पना के हेतुभूत उपपाद्य ज्ञान का नाम अर्थापत्तिप्रमाण है। "यत्राभिधीयमाने योन्योऽर्थःप्रसज्यतेसोऽर्थापत्तिः" वात्स्या० भा० २।२।१ = जहां किसी एक अर्थ के कथन से अन्य अर्थ का लाभ हो उस को "अर्थापत्ति" कहते हैं, जैसाकि "जीवी देवदत्तो गृहे नास्ति = देवदत्त जीता है पर घरमें नहीं, यहां अर्थापत्तिप्रमाण को पृथक् मानने वाले मीमांसकों का यह अभिप्राय है कि "जीविनो देवदत्तस्य गृहासत्त्वेन वहिःसत्त्वं कल्पयामि = गृहाभाव से जीते हुए देवदत्त के बाह्यसत्त्व की कल्पना करता हूं, इस अनुव्यवसाय ज्ञान द्वारा गृहाभावदर्शनरूप उपपादक से वहिःसत्त्वरूप उपपाद्य की कल्पनारूप अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण है परन्तु सांख्य तथा न्याय सिद्धान्त में अर्थापत्ति का व्यतिरेकि अनुमान में अन्तर्भाव इस अभिप्राय से माना है कि "जीविनो जीवित्वं

*जिसके अभाव से जिसका अभाव हो उसको उपपादक और जिसके बिना जो सिद्ध न होसके उसको उपपाद्य कहते हैं।

वहिःसत्त्वगृहसत्त्वान्यतरव्याप्यम् = जीता हुआ पुरुष गृह अथवा अन्यत्र अवश्य विद्यमान होगा, इस प्रकार गृहाभाव दर्शन-रूप हेतु से वहिः सत्त्वरूप साध्य की सिद्धि अनुमान द्वारा होजाती है अर्थात् "**देवदत्तो वहिः सत्त्ववान् जीवित्वे सति गृहाभावदर्शनात् यन्नैवं तन्नैवम्** = देवदत्त गृह से बाहर विद्यमान है क्योंकि वह जीता है और गृह में नहीं है, यदि ऐसा न हो तो ऐसा नहीं होसक्ता अर्थात् जो जीता हुआ नहीं और गृह में भी विद्यमान नहीं वह बाहर कदापि विद्यमान न होगा और "**गृहाभावदर्शनेनवहिःसत्वमनुमिनोमि** = गृहाभावदर्शन-रूप हेतु से वहिःसत्त्व का अनुमान करताहूं, इस प्रकार के अनुव्य-वसाय से भी वहिःसत्त्व की अनुमिति होती है, इसलिये अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानने की अवश्यकता नहीं, एवं सम्भवप्रमाण को भी अनुमान के अन्तर्भूत जानना चाहिये ।

और जो मीमांसक अनुपलब्धि प्रमाण को भिन्न मानते हैं यह भी ठीक नहीं क्योंकि "**घटाभाववद्भूतलम्**" इत्यादि स्थलों में अभाव का "विशेषणतासम्बन्ध" से प्रत्यक्ष ही होता है, चक्षुरिन्द्रिय का भूतल के साथ सम्बन्ध है और भूतल में अभाव विशेषणतारूप से प्रत्यक्ष प्रतीत होता है परन्तु सांख्यसिद्धान्त में घटाभाव को भूतलस्व-रूप ही माना है क्योंकि उनके मत में अभाव अधिकरणस्वरूप होता है, और ऐतिह्यप्रमाण इसलिये पृथक् नहीं कि यदि वह आप्तोक्त है तो शब्दप्रमाण केही अन्तर्गत है और यदि आप्तोक्त नहीं तो प्रमाणकोटि में मानने योग्य नहीं, एवं अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, आदि सब प्रमाण अनुमानादिकों के अन्तर्गत हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि कोई तीन कोई चार कोई छः और कोई आठ प्रमाण मानते हैं एवंविध संख्याभेद से वैदिक सिद्धान्त में कोई भेद नहीं ।

सं०—अब प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण करते हैं:—

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् । ८९ ।

पद०—यत् । सम्बद्धं । सत् । तदाकारोल्लेखि । विज्ञानम् । तत् । प्रत्यक्षम् ।

पदा०—(यत्) जो (सम्बद्धं, सत्) इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध हुआ (तदाकारोल्लेखि) विषय के समानाकार को धारण करने वाला (विज्ञानम्) ज्ञान होता है (तत्,प्रत्यक्षम्) उसको प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं ।

भाष्य—अन्तःकरण के प्रकाशक परिणाम का नाम "वृत्ति" है। जैसे तालाब का जल छिद्रद्वारा निकलकर नालीस्वरूपभूत हुआ क्षेत्र में प्रवेश करके उसके समानाकार होजाता है इसी प्रकार अन्तःकरण भी चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा निकलकर घटादि विषयदेश को प्राप्त हुआ उसके समानाकार परिणाम को प्राप्त होता है इसी का नाम "वृत्ति" है । जब चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध होता है तब घटोयम् = यह घट है, पटोयम् = यह पट है, इस प्रकार विषय के समानाकार अन्तःकरण की वृत्ति को "प्रत्यक्षप्रमाण" कहते हैं ।

सूत्र में "यत्सम्बद्धम्" पद अनुमान तथा शब्द प्रमाण की

व्यावृत्ति के लिये आया है ।

सं०—ननु, योगी को इन्द्रिय सम्बन्ध से विना भी अतीतानागत वस्तुओं का प्रत्यक्ष होने से उक्त लक्षण योगी के प्रत्यक्ष में नहीं घट सक्ता ? उत्तर :—

योगिनामवाह्यप्रत्यक्षत्वान्नदोषः । ६० ।

पद०—योगिनाम् । अवाह्यप्रत्यक्षत्वात् । न । दोषः ।

पदा०—(योगिनाम्) योगियों को अतीतानागत पदार्थों का (अवाह्यप्रत्यक्षत्वात्) वाह्यप्रत्यक्ष (न) नहीं होता, इसलिये उक्त (दोषः) दोष नहीं ।

भाष्य—योगी को अतीत, अनागत, समीपस्थ तथा दूरस्थ पदार्थों का योगज सामर्थ्य से प्रत्यक्ष होता है अर्थात् इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से विना भी योगज सामर्थ्यद्वारा योगी सर्व पदार्थों का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करलेता है, अतएव कोई दोष नहीं ।

सं०—अब दूसरा हेतु कहते हैं :—

लीनवस्तुलब्धातिशय सम्बन्धाद्वाऽदोषः । ९१ ।

पद०—लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात् । वा । अदोषः ।

पदा०—(वा) अथवा (लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात्) अतीतानागत पदार्थों के साथ अलौकिकशक्तिवाले इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से (अदोषः) उक्तदोष नहीं आता ।

भाष्य—अतीतानागत तथा व्यवहित विषयों के प्रत्यक्ष करने के लिये योगी के इन्द्रियों में योगबल से दिव्य शक्ति उत्पन्न होजाती है जिस से उसको अतीतानागत आदि विषयों का प्रत्यक्ष होजाता है ।

तात्पर्य्य यह है कि योगद्वारा दिव्यशक्ति वाले योगी के इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध होकर प्रत्यक्ष होता है इसलिये प्रत्यक्ष के लक्षण में उक्त दोष नहीं आता।

सं०–ननु, उक्त प्रत्यक्ष ईश्वर को न होगा क्योंकि उसके इन्द्रिय नहीं? उत्तर :—

ईश्वरासिद्धेः।९२।

पद०–एकपद।

पदा०–(ईश्वरासिद्धेः) ईश्वर में उक्त दोष की असिद्धि = सिद्धि नहीं।

भाष्य–हमने जो प्रत्यक्ष का लक्षण किया है वह जन्यप्रत्यक्ष का लक्षण है अर्थात् जो पहले न होकर फिर हो उसको "जन्यप्रत्यक्ष" कहते हैं और ईश्वर में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो न होकर हो क्योंकि उसका ज्ञान नित्य है, इसलिये प्रत्यक्ष की ईश्वर में असिद्धि नहीं। और बात यह है कि जब वह सर्वशक्तिमान् और सर्वथा स्वतन्त्र है तो फिर उसका ज्ञान पुरुष के समान इन्द्रियों के अधीन नहीं हो सकता, इस प्रकार विवेचन करने से ईश्वर में उक्त दोष की सर्वथा असिद्धि है।

सं०–अब आक्षेप सङ्गति से पूर्वपक्ष करके ईश्वर का निरूपण करते हैं :—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्नतत्सिद्धिः।९३।

पद०–मुक्तबद्धयोः। अन्यतराभावात। न। तत्सिद्धिः।

पदा०–(मुक्तबद्धयोः) मुक्त, बद्ध दोनों में से (अन्यतराभावात) किसी प्रकार का न होने से (तत्सिद्धिः) ईश्वर की सिद्धि (न) नहीं होती।

भाष्य—यदि ईश्वर को मुक्तस्वभाव माना जाय तो उससे सृष्टि की रचना नहीं हो सकती और बद्ध मानाजाय तो उसमें ईश्वरपन नहीं हो सकता, एवं दोनों प्रकार से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती।

सं०—अब उक्त शंका का समाधान करते हैं :—

उभयथाप्यसत्करत्वम्। ९४।

पद०—उभयथा। अपि। असत्करत्वम्।

पदा०—(उभयथा) दोनों प्रकार से (अपि) भी (असत्करत्वम्) आपका कथन ठीक नहीं, क्योंकि :—

मुक्तात्मनःप्रशंसोपासासिद्धस्य वा। ९५।

पद०—मुक्तात्मनः। प्रशंसा। उपासा। सिद्धस्य। वा।

पदा०—(मुक्तात्मनः) मुक्तस्वभाव परमात्मा की प्रशंसा पाई जाती है (वा) और (सिद्धस्य) सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की (उपासा) उपासना पाई जाती है।

भाष्य—सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धम पापविद्धम्।कविर्मनीषीपरिभूःस्वयम्भूर्या० यजु० ४०।८ इत्यादि मंत्रों में मुक्तस्वरूप परमात्मा का वर्णन पाया जाता है और सिद्ध = सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की—

"पूर्णात्पूर्णमुदचतिपूर्णपूर्णेन सिच्यते।
उतोतदद्यविद्यामयतस्तत्परिषिच्यते।अथर्व० १०।४।८।२९

इत्यादि मंत्रों में उपासना पाई जाती है कि जिस पूर्ण परमात्मा से सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है उसकी हम उपासना करें। इस प्रकार मुक्त तथा सृष्टिकर्त्ता दोनों प्रकार से परमात्मा की सिद्धि हो सकती है।

तात्पर्य्य यह है कि सब दुःखों से रहित होने के कारण परमात्मा

को मुक्त कहागया है इसलिये मुक्त पक्ष में कोई दोष नहीं और कर्तृत्व पक्ष में इसलिये दोष नहीं कि सृष्टि करने से वह बन्धन को प्राप्त नहीं होता किन्तु स्व इच्छा से सृष्टि उत्पन्न करता है जैसाकि "लोकवत्तुलीला कैवल्यम्" ब्र० सू० २।१।३३ इत्यादि सूत्रों में लिखा है कि वह सृष्टि करने में स्वतन्त्र है।

और जो इस ईश्वर प्रकरण में विज्ञानभिक्षु तथा अनिरुद्ध ने "ईश्वरासिद्धेः" इत्यादि सूत्रों को ईश्वर के खण्डन में लापन किया है, यह आशय महर्षि कपिल के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, यदि महर्षि कपिल का आशय ईश्वर की असिद्धि में होता तो "स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता" सां० ३।५६ और "ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा" सां० ३।५७ इत्यादि सूत्रों में ईश्वर की सिद्धि स्पष्ट प्रकार से वर्णन न करते और न वेदों में ईश्वर की सिद्धि का स्पष्ट प्रकार से वर्णन पाया जाता जैसाकि ऊपर वर्णन कर आए हैं, इस व्याख्यान से पाया जाता है कि आधुनिक टीकाकारों ने महर्षि कपिल का आशय न समझकर मनघड़ित आशय लापन करने में तनिक भी सङ्कोच नहीं किया, यदि महर्षि का आशय ईश्वर के खण्डन में होता तो "न ईश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः" सां० ५।२ इत्यादि सूत्रों में यह वर्णन न करते कि जड़ कर्म स्वयं फल दाता नहीं होसक्ते प्रत्युत ईश्वर ही फल दाता है, इत्यादि प्रमाणों से पाया जाता है कि शास्त्र का आशय न समझकर मन माने अर्थ किये हैं जो शास्त्रकर्त्ता के आशय से विरुद्ध हैं, अतएव ईश्वर ही जगत् कर्त्ता और जीवों का कर्मफल दाताहै।

और जो वृत्तिकार अनिरुद्ध ने ईश्वर के खण्डन में यह पक्ष उठाया है कि जो कर्त्ता होता है वह शरीरी होता है जैसाकि

घटादि कार्य्य का कर्त्ता कुलालादि शरीरी देखाजाता है, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि प्रकृति को निरवयव होने से वह भी शरीर रहित मानते हैं फिर उससे जगत् की उत्पत्ति कैसे ? यदि यह कहा जाय कि कुलालादि की भांति निमित्तकारण अवश्य शरीरी होता है और प्रकृति उपादान कारण होने से सूक्ष्म और निरवयव भी रहो फिर भी उससे जगत् की रचना स्वयं होसक्ती है ! इसका उत्तर यह है कि संसार में यह नियम पायाजाता है कि उपादानकारण निमित्तकारण चेतन से विना स्वयं कार्य्य की रचना नहीं कर सक्ता जैसाकि रथादि चेतन से विना स्वयं नहीं चल सक्ते, इससे सिद्ध होता है कि जड़ प्रकृति का अवश्य कोई नियन्ता है जिसके द्वारा वह अपने कार्य्य जगत् को उत्पन्न करती है और वह शरीर रहित सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा है क्योंकि शरीरधारी अल्पज्ञ सूक्ष्म प्रकृति से जगत् को नहीं रच सक्ता और सर्वशक्तिमान् परमात्मा सृष्टि आदि कार्य्यों के उत्पन्न करने में सर्वथा स्वतन्त्र है जैसाकि :-

नतस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च ॥ श्वे० श्व० ६ । ८ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में वर्णन किया है कि जगत् की रचना में उसका ज्ञान तथा क्रियाशक्ति स्वाभाविक है ।

और जो यह कहागया है कि निमित्तकारण शरीरी ही होता है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि अदृष्टादि निमित्तकारण हैं और वह शरीरी नहीं ।

अतएव उक्त टीकाकारों का यह लेख कि प्रकृति स्वयं जगत् को उत्पन्न कर सक्ती है सर्वथा असङ्गत है ।

सं०—ननु, तुम्हारे मत में भी निरवयव ईश्वर में सृष्टि कर्तृत्व कैसे ? उत्तर :—

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् । ९६ ।

पद०—तत्सन्निधानात् । अधिष्ठातृत्वं । मणिवत् ।

पदा०—(तत्सन्निधानात्) प्रकृति के समीप होने से (मणिवत्) मणिकी भांति (आधिष्ठातृत्वं) ईश्वर में जगत् कर्तृत्व है ।

भाष्य—जिस प्रकार अयस्कान्तमणि की समीपता से लोहे में चेष्टा होती है इसीप्रकार ईश्वर की समीपता से जगत् रचने के लिये प्रकृति में चेष्टा होती है अर्थात् चेतन ईश्वर की प्रेरणा से बिना जड़ प्रकृति से स्वयं जगत् की उत्पत्ति नहीं होसक्ती ।

यद्यपि ईश्वर अविद्यादिक्लेश, शुभाशुभकर्म, कर्मों का फल और फलानुकूलवासना से रहित नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है तथापि उसमें ज्ञान तथा क्रिया शक्ति स्वाभाविक है इसलिये समीपतामात्र से ही ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता है । ईश्वर का प्रकृति के साथ साक्षात् सम्बन्ध विशेष का नाम "**समीपता**" है परन्तु वह सम्बन्ध संयोग तथा समवायरूप नहीं किन्तु स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है और वह अनादि है, ईश्वर स्वामी और प्रकृति स्व है अतएव निरवयव ईश्वर से सृष्टि होने में कोई बाधा नहीं ।

सं०—ननु, चेतन होने के कारण ईश्वर के समान जीवों को अधिष्ठाता मानने में क्या हानि ? उत्तर :—

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् । ९७ ।

पद०—विशेषकार्येषु । अपि । जीवानाम् ।

पदा०—(विशेषकार्येषु) कार्य्यविशेष में (जीवानाम्) जीव

(अपि) भी अधिष्ठाता हैं ।

भाष्य—नित्य तथा चेतन होने के कारण कतिपय विशेषकार्य्य अर्थात शरीर इन्द्रियादिकों का अधिष्ठातृत्व जीवों को भी है परन्तु अल्पज्ञ होने के कारण जीव प्रकृति के अधिष्ठाता नहीं होसक्ते ।

सं०—अब प्रसङ्ग सङ्गति से ईश्वर द्वारा वेदोत्पत्ति का निरूपण करते हैं :—

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः । ९८ ।

पद०—सिद्धरूपबोद्धृत्वात । वाक्यार्थोपदेशः ।

पदा०—(सिद्धरूपबोद्धृत्वात) सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ ईश्वर से (वाक्यार्थोपदेशः) वेदों का उपदेश होता है ।

भाष्य—जैसे सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान होने से ईश्वर जगत कर्त्ता है इसी प्रकार अग्नि आदि महर्षियों द्वारा वेदों का भी उपदेष्टा है, वेद वाक्यों के अर्थों का उपदेश ईश्वर के नित्यमुक्तत्वादि का बोधक है यदि वेदों का ईश्वर के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न होता तो उसके स्वरूप का वेद कदापि वर्णन न कर सक्ते, अतएव ईश्वरद्वारा वेदों की उत्पत्ति मानना ही युक्त है ।

सं०—ननु, यदि चेतन ही अधिष्ठाता होता है तो जड़ अन्तःकरण में अधिष्ठातृत्व कैसे ? उत्तर :—

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् । ९९ ।

पद०—अन्तःकरणस्य । तदुज्ज्वलितत्वात । लोहवत । अधिष्ठातृत्वम ।

पदा०—(तदुज्ज्वलितत्वात) पुरुष की समीपता से (अन्तः-

करणस्य) अन्तःकरण को (लोहवत्) लोह की भांति (अधिष्ठातृत्वम्) अधिष्ठातृत्व है।

भाष्य–जैसे अग्नि के सम्बन्ध से लोहे में दाहशक्ति होजाती है इसी प्रकार जीव की समीपता से जड़ अन्तःकरण में भी अधिष्ठातृत्व होजाता है। इस प्रकार परसत्ता से जड़ में अधिष्ठातृत्व है स्वयं सिद्ध नहीं।

सं०–प्रत्यक्षप्रमाण का निरूपण करने के अनन्तर अब अनुमान प्रमाण का निरूपण करते हैं :–

प्रतिबन्धदृशःप्रतिबद्धज्ञान-मनुमानम्। १००।

पद०–प्रतिबन्धदृशः। प्रतिबद्धज्ञानम्। अनुमानम्।

पदा०–(प्रतिबन्धदृशः) व्याप्तिविशिष्ट हेतु के ज्ञानवाले पुरुष को जो (प्रतिबद्धज्ञानम्) साध्य का ज्ञान होता है उसको (अनुमानम्) अनुमान कहते हैं।

भाष्य–**यत्र२ धूमस्तत्र२वन्हिः** = जहां२ धूम होता है वहां अवश्य अग्नि होती है, इस अव्यभिचारी सम्बन्ध का नाम "**प्रतिबन्ध**" है और इसी को "**व्याप्ति**" कहते हैं, व्याप्तिज्ञान वाले पुरुष को हेतु ज्ञान के अनन्तर पक्ष में जो साध्य के समानाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है उसको "**अनुमान**" कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि अनधिगत तथा अबाधितार्थ को सामान्यरूप से विषय करने वाली चित्तवृत्ति का नाम अनुमान प्रमाण है और इसका फल अनुमिति अर्थात् अनुमान से होनेवाला ज्ञान है।

जिसमें साध्य की सिद्धि हो उसको "**पक्ष**" कहते हैं जैसा

कि पर्वत में अग्नि की सिद्धि अभिप्रेत है और जिसकी सिद्धि की-जाय उसको "साध्य" कहते हैं जैसाकि प्रकृत में अग्नि साध्य है, जिस लिङ्ग से सिद्धि की जाय उसको "हेतु" कहते हैं और हेतु तथा साध्य का जो सदा साथ रहने का नियम है उसको "व्याप्ति" कहते हैं, जिसमें वादी, प्रतिवादी दोनों को साध्य स्वीकार हो उस को "दृष्टान्त" कहते हैं जैसाकि महानस।

सं०—अब शब्द प्रमाण का लक्षण कहते हैं :—

आप्तोपदेशःशब्दः।१०१।

पद०—आप्तोपदेशः। शब्दः।

पदा०—(आप्तोपदेशः) आप्त पुरुषों के उपदेश को (शब्दः) शब्दप्रमाण कहते हैं।

भाष्य—पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को "आप्ति" कहते हैं, आप्ति वाले पुरुष का नाम "आप्त" है, आप्त के उपदेश को "आप्तोपदेश" कहते हैं, इसी का नाम "शब्दप्रमाण" है।

तात्पर्य्य यह है कि आप्त बचन के श्रवणानन्तर अनधिगत तथा अबाधित अर्थ को निषय करने वाली चित्तवृत्ति का नाम शब्दप्रमाण है और इसका फल वाक्यार्थज्ञानरूप पौरुषेय बोध है।

सं०—अब प्रमाणोपदेश का फल कथन करते हैं :—

उभयसिद्धिःप्रमाणात्तदुपदेशः।१०२।

पद०—उभयसिद्धिः। प्रमाणात्। तदुपदेशः।

पदा०—(उभयसिद्धिः) प्रकृति पुरुष की सिद्धि (प्रमाणात्) प्रमाण से होने के कारण (तदुपदेशः) प्रमाणों का उपदेश किया गया है।

भाष्य—पुरुष शब्द से यहां जीव ईश्वर दोनों का ग्रहण है अर्थात् जीव, ईश्वर तथा प्रकृति इन तीनों की सिद्धि प्रमाणों द्वारा होती है इसी कारण प्रमाणों का उपदेश किया है।

सं०—ननु, उक्त प्रमाणों में से किस प्रमाणद्वारा उनकी सिद्धि होती है? उत्तर:—

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः। १०३।

पद०—सामान्यतोदृष्टात्। उभयसिद्धिः।

पदा०—(सामान्यतोदृष्टात्) सामान्यतोदृष्ट अनुमान से (उभयसिद्धिः) प्रकृति पुरुष दोनों की सिद्धि होती है।

भाष्य—पूर्ववत्, शेषवत्, समान्यतोदृष्ट, इस भेद से अनुमान तीन प्रकार का है। **यत्रकारणेनकार्य्यमनुमीयतेतत्पूर्ववत्** = कारण से कार्य्य के अनुमान को "**पूर्ववत्**" कहते हैं, जैसाकि मेघों को देखकर भविष्यत् वृष्टि का अनुमान होता है।

यत्रकार्य्येणकारणमनुमीयतेतत्शेषवत् = कार्य्य से कारण के अनुमान को "**शेषवत्**" कहते हैं, जैसाकि नदी के बाढ़ को देखकर ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान होता है।

दृष्टस्वलक्षणसामान्यंसामान्यतोदृष्टं = जहां सामान्य रीति से एक जाति विषय के व्याप्ति ज्ञान से भिन्नजाति विषय का अनुमान होता है उसको "**सामान्यतोदृष्ट**" कहते हैं, जैसाकि कुठाररूप साधन के बिना छिदिक्रिया नहीं हो सक्ती, इससे पाया गया कि जो २ क्रिया होती है वह किसी साधन द्वारा ही होती है, इसी अनु-

मान द्वारा रूपज्ञानादि क्रिया से चक्षुः आदि इन्द्रियों का अनुमान किया जाता है ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे उक्त अनुमान द्वारा लौकिक विषयों की सिद्धि होती है इसीप्रकार जीव, ईश्वर, प्रकृति, इनकी भी सिद्धि होती है ।

सं०—ननु, उक्त प्रमाणों से उत्पन्न हुआ पौरुषेयबोध बुद्धिवृत्तिरूप होने से पुरुषनिष्ठ नहीं होसक्ता ? उत्तर :—

चिदवसानो भोगः । १०४ ।

पद०—चिदवसानः । भोगः ।

पदा०—(भोगः) भोग (चिदवसानः) पुरुषनिष्ठ होता है ।

भाष्य—इष्टानिष्ट विषय के अनुभव का नाम "**भोग**" है और वह पुरुषनिष्ठ होता है अर्थात् उसका अवसान पुरुष में होता है, यद्यपि विषय का अनुभव करना बुद्धिका धर्म है तथापि विषयानुभव का अवसान बुद्धि में नहीं होता क्योंकि बुद्धि जड़ होने के कारण भोक्री = भोग करने वाली नहीं हो सकती और पुरुष चेतन होने से भोक्ता है इसलिये उस २ विषय के समानाकार बुद्धिवृत्त्युपरक्त पुरुष में ही भोग होता है अतएव वह भोग पुरुषनिष्ठ है ।

सं०—अकर्त्ता पुरुष में फलरूप भोग का मानना ठीक नहीं ? उत्तर :—

अकर्त्तुरपिफलोपभोगोऽन्नाद्यवत् । १०५ ।

पद०—अकर्त्तुः । अपि । फलोपभोगः । अन्नाद्यवत् ।

पदा०—(अकर्त्तुः, अपि) अकर्त्ता को भी (फलोपभोगः) फल का भोग होता है (अन्नाद्यवत्) अन्नादि की भांति ।

भाष्य-यद्यपि बुद्धि का स्वामी पुरुष वृत्तिज्ञान का कर्त्ता नहीं तथापि उसमें बुद्धिकृत वृत्तिज्ञानरूप फल का भोग होसक्ता है जैसा कि पाचक के बने हुए पाक का भोग उसके स्वामी को होता है इस प्रकार भोग का अवसान पुरुष में होता है ।

सं०-ननु, "शास्त्रफलंप्रयोक्तरि" पूर्वमीमां० ३।७।१८ = शास्त्रोक्त फल कर्त्ता को ही प्राप्त होता है, इस सिद्धान्तानुसार पुरुष को अकर्त्ता मानकर उसमें फल मानना ठीक नहीं ? उत्तर :-

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः।१०६

पद०-अविवेकात् । वा । तत्सिद्धेः । कर्त्तुः । फलावगमः ।

पदा०-(अविवेकात्) अविवेकद्वारा (तत्सिद्धेः) कर्त्ता होने से (कर्त्तुः) कर्त्ता को (वा) ही (फलावगमः) फल की प्राप्ति होती है ।

भाष्य-प्रकृति पुरुष का विवेक न होने के कारण प्राकृत कर्मों को करने वाली बुद्धि के साथ पुरुष का सम्बन्ध होने से उसमें कर्मों का कर्तृत्व माना है परन्तु असङ्ग होने से पुरुष स्वरूप से प्राकृत कर्मों का कर्त्ता नहीं बुद्धि ही कर्त्ता है, इसलिये उसी को क्रिया-फल का भोग होता है अकर्त्ता को नहीं और अनादि अविवेककृत प्रकृति के तादात्म्य सम्बन्ध से बुद्धिकृत ज्ञानादिगुणों का कर्त्ता पुरुष को माना गया है इसलिये शास्त्रोक्त फल का भोग भी उसी में है, अतएव मीमांसा के उक्त वाक्य के साथ विरोध नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जो कर्त्ता होता है वही भोक्ता होता है । और पिछले सूत्र में पुरुष को अकर्त्ता मानकर जो समाधान दिया गया है वह इस अभिप्राय से नहीं कि वास्तव में जीव कर्त्ता नहीं किन्तु इस अभिप्राय से है कि जैसे पाचककृत कर्म का स्वामी कर्त्ता नहीं होता किन्तु उसके सम्पादन किये हुए अन्न का भोक्ता तथा

प्रेरक होता है इसी प्रकार जीव भी स्वामी सम्बन्ध से बुद्धि का प्रेरक तथा बुद्धिकृत कर्मों का भोक्ता है।

सं०—ननु, यदि पुरुष को स्वरूप से भोक्ता मानाजाय तो मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती? उत्तर :—

नोभयं च तत्त्वाख्याने । १०७ ।

पद०—न । उभयं । च । तत्त्वाख्याने ।

पदा०—(तत्त्वाख्याने) विवेक होने पर (उभयं, च) कर्तृत्व और भोक्तृत्व (न) नहीं रहते ।

भाष्य—जब प्रकृति पुरुष के स्वरूप का साक्षात्कार होजाता है तब बुद्धि के सम्बन्धद्वारा पुरुष के स्वरूप में प्रतीत होनेवाला प्राकृत गुणों का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व नहीं रहता ।

तात्पर्य्य यह है कि प्राकृत गुणों का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व बुद्ध्युपरक्त पुरुष में होता है केवल पुरुष में नहीं और विवेक के अनन्तर दोनों की निवृत्ति होने से पुरुष मुक्त होजाता है इसलिये उक्त दोष नहीं ।

सं०—ननु, जो वस्तु प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होती वह नहीं होती, इसलिये "**सामान्यतोदृष्ट**" अनुमान से प्रकृति पुरुष की सिद्धि नहीं होसकती? उत्तर :—

विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य । १०८ ।

पद०—विषयः । अविषयः । अपि । अतिदूरादेः । हानोपादानाभ्याम् । इन्द्रियस्य ।

पदा०-(अतिदूरादेः) अतिदूरादिदोष (अपि) तथा (इन्द्रियस्य) इन्द्रियों के (हानोपादानाभ्याम्) नाश और अन्यत्र लगने से (विषयः) पदार्थ (अविषयः) प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता ।

भाष्य-यह नियम नहीं कि जो वस्तु प्रत्यक्ष प्रतीत न हो वह स्वरूप से भी न हो, वस्तु के प्रत्यक्ष न होने में कई कारण होते हैं जैसाकि अतिदूर होना तथा उस पदार्थ के ज्ञानकारक इन्द्रिय में कोई रोगादि दोष होना, पदार्थ का सूक्ष्म होना अथवा बीच में किसी वस्तु का व्यवधान होना, मन की अनवस्थिति होना, पदार्थ का अपने समान पदार्थ में लय होजाना, इत्यादि कारणों से विद्यमान पदार्थ की भी प्रतीति नहीं होती । इसलिये प्रत्यक्ष से प्रतीत न होने के कारण प्रकृति, पुरुष का अभावसिद्ध करना ठीक नहीं, "सामान्यतोदृष्ट" अनुमान से उनकी सिद्धि हो सकती है ।

सं०-ननु, उक्त कारणों में से प्रकृति, पुरुष के प्रत्यक्ष न होने में कौन कारण है ? उत्तर :--

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः । १०९ ।

पद०-सौक्ष्म्यात् । तदनुपलब्धिः ।

पदा०-(सौक्ष्म्यात्) सूक्ष्म होने से (तदनुपलब्धिः) प्रकृति पुरुष की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती ।

भाष्य-अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रकृति, पुरुष की प्रत्यक्षता नहीं होती अर्थात् यह ऐसे सूक्ष्म पदार्थ हैं कि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकते ।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकृति पुरुष के प्रत्यक्ष न होने में सूक्ष्मता कारण है ।

सं०-ननु, अभाव से उनकी अप्रतीति मानने में क्या हानि ? उत्तर :—

कार्य्यदर्शनात्तदुपलब्धेः । ११० ।

पद०—कार्य्यदर्शनात् । तदुपलब्धेः ।

पदा०—(कार्य्यदर्शनात्) कार्य्य के देखने से (तदुपलब्धेः) प्रकृति, पुरुष दोनों की प्रतीति होती है ।

भाष्य—सृष्टिरूपकार्य्य को देखने से प्रकृति, पुरुष की अनुमान द्वारा प्रतीति होती है इसलिये उनका अभाव मानना ठीक नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि प्रकृति के महत्तत्त्वादि कार्य्यों को देखने से उनके उपादान कारण प्रकृति तथा निमित्तकारण ईश्वर और शरीर की चेष्टा से जीव का अनुमान होता है जैसाकि ९८वें सूत्र में वर्णन कर आए हैं, अतएव इनका अभाव मानना युक्ति सिद्ध नहीं ।

सं०—अब आक्षेप सङ्गति से पूर्वपक्ष करके प्रकृति की सिद्धि का निरूपण करते हैं :—

वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरितिचेत् । १११ ।

पद०—वादिविप्रतिपत्तेः । तदसिद्धिः । इति । चेत् ।

पदा०—(वादिविप्रतिपत्तेः) वादियों के विरोध से (तदसिद्धिः, इति) प्रकृति की सिद्धि (चेत्) नहीं होसकती ।

भाष्य—जगत् के कारण मानने में वादियों के अनेकमत हैं जैसाकि बौद्ध शून्य को, नवीन वेदान्ति ब्रह्मको और वैशेषिक केवल परमाणुओं को जगत् का उपादान कारण मानते हैं । इस प्रकार परस्पर विरुद्ध कथन से प्रकृति की सिद्धि नहीं होसक्ती ।

सं०—अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं :—

तथाप्येकतरदृष्ट्याऽन्यतर-

सिद्धेर्नापलापः । ११२ ।

पद०–तथा । अपि । एकतरदृष्ट्या । अन्यतरसिद्धेः । न । अपलापः ।

पदा०–(तथा, अपि) वादियों के विरोध होने पर भी (एकतरदृष्ट्या) कार्य्य के देखने से (अन्यतरसिद्धेः) कारण अनुमान का (अपलापः, न) बाध नहीं होसकता ।

भाष्य–यद्यपि जगत् के उपादानकारण में वादियों के अनेक प्रकार के विरोध पाएजाते हैं तथापि सृष्टिरूप कार्य्य के देखने से नित्य कारण का अनुमान होता है, इसलिये प्रकृति को उपादान कारण मानना ही ठीक है ।

शून्य से जगत् की उत्पत्ति इसलिये नहीं होसकती कि जगत् शून्यरूप नहीं तथा ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानने में ब्रह्म विकारी होजायगा और वैशेषिक लोग जो परमाणुओं को जगत् का उपादान कारण मानते हैं वही प्रकृति है, इसमें केवल संज्ञा भेद है सिद्धान्त भेद नहीं ।

सं०–अब प्रकृति के कारणत्व में और युक्ति कहते हैं :–

त्रिविधविरोधापत्तेश्च । ११३ ।

पद०–त्रिविधविरोधापत्तेः । च ।

पदा०–(च) और (त्रिविधविरोधापत्तेः) तीन प्रकार के विरोध की आपत्ति से प्रकृति का बाध नहीं होता ।

भाष्य–यदि प्रकृति को जगत् का उपादान कारण न माना जाय तो श्रुति विरोध, स्मृतिविरोध तथा न्याय विरोध होगा जैसाकि "या आपोयाश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह" अथर्व० ११ । ४ । १० । ३० = इस मंत्र में विराट् शब्द से प्रकृति को

प्रतिपादन किया है और "प्रकृतेःक्रियमाणानि गुणैःकर्माणि सर्वशः" गी० ३। २७ = इसमें प्रकृति को उपादान कारण प्रतिपादन किया है।

और न्याय विरोध इस प्रकार है कि संसार में यह नियम देखाजाता है कि उपादान कारण के गुण कार्य्य में आते हैं अर्थात् कार्य्य अपने कारण के समान गुणों वाला होता है, यह सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक देखाजाता है इसलिये इसका कारण भी त्रिगुणात्मक होना चाहिये इसलिये प्रकृति ही त्रिगुणात्मक होने से कारण होसक्ती है अन्य नहीं और ऐसा न मानने से उक्त न्याय के साथ विरोध आता है अतएव प्रकृति ही को जगत् का कारण मानना समीचीन है।

सं०—ननु, उत्पत्ति से पूर्व कार्य्य असद्रूप होता है इसलिये सद्रूप प्रकृति कारण नहीं होसक्ती ? उत्तर :—

नासदुत्पादोनृश्रृङ्गवत् । ११४ ।

पद०— न । असदुत्पादः । नृश्रृङ्गवत् ।

पदा०—(असदुत्पादः) असत् की उत्पत्ति (न) नहीं होती (नृश्रृङ्गवत्) मनुष्य के श्रृङ्ग की भांति ।

भाष्य—असत् कार्य्य की उत्पत्ति नहीं होसक्ती, कारण व्यापार में उसीकी उत्पत्ति होती है जिसकी अपने कार्य्य में सत्ता होती है। इस से पायाजाता है कि कार्य्य सद्रूप ही होता है और अपने कारण के व्यापार से उसकी अभिव्यक्ति होती है।

सं—अब असत्कार्य्य की उत्पत्ति न होने में हेतु कहते हैं :—

उपादाननियमात् । ११५ ।

पद०—एकपद ।

पदा०-(उपादाननियमात्) उपादानकारण के नियम से असत्कार्य्य की उत्पत्ति नहीं होती ।

भाष्य-सत् कारण से सत् कार्य्य की उत्पत्ति का नाम "उपादान नियम" है, भावरूप तन्तुओं से भावरूप ही पट उत्पन्न होता है अर्थात् मिट्टी से घट ही उत्पन्न होता है पट नहीं, यदि कार्य्य असत् होता तो कुलाल की तन्तुओं के तथा तन्तुवाय की मृत्तिका के ग्रहण में प्रवृत्ति देखी जाती क्योंकि जैसे उत्पत्ति से पूर्व घट मृत्तिका में असद्रूप है वैसे ही तन्तुओं में भी असद्रूप है और उत्पत्ति से पूर्व तन्तुओं में पट असद्रूप है वैसे ही मृत्तिका में भी असत् है परन्तु कुलाल तथा तन्तुवाय की मृत्तिका और तन्तुओं में नियम से प्रवृत्ति होने के कारण कार्य्य असद्रूप नहीं किन्तु सद्रूप है ।

सं०-कार्य्य के सत् होने में और हेतु कहते है :—

सर्वत्रसर्वदासर्वासम्भवात् । ११६ ।

पद०-सर्वत्र । सर्वदा । सर्वासम्भवात् ।

पदा०-(सर्वदा) सर्वकाल में (सर्वत्र) हरएक कारण से (सर्वासम्भवात्) प्रत्येक कार्य्य की उत्पत्ति होना असम्भव है इसलिये कार्य्य को असत् कहना ठीक नहीं ।

भाष्य-यदि कार्य्य को असत् मानाजाय तो कारणमात्र से कार्य्यमात्र की उत्पत्ति होनी चाहिये क्योंकि असत्कार्य्यवादी के मत में उत्पत्ति से पूर्व कारणमात्र में प्रत्येक कार्य्य की असद्रूपता से समानता पाईजाती है परन्तु प्रत्येक कारण से कार्य्यमात्र की उत्पत्ति न होने से असत्कार्य्यवादी का मत ठीक नहीं ।

सं०-अब और हेतु कहते है :—

शक्तस्यशक्यकरणात् । ११७ ।

पद०—शक्तस्य । शक्यकरणात् ।

पदा०—(शक्तस्य) शक्ति सम्पन्न कारण से (शक्यकरणात्) कार्य्य की उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिये कार्य्य असत् नहीं ।

भाष्य—कार्य्य की अनागत अवस्था का नाम "शक्ति" है और शक्ति के आश्रय को "शक्य" कहते हैं, जिस २ कारण में जिस २ कार्य्य के उत्पन्न करने की शक्ति होती है उसी से वह उत्पन्न होता है अन्य से नहीं और कारणनिष्ठ शक्ति भावरूप होने से कार्य्य भी भावरूप होता है अर्थात् भावरूप कारण से अभावरूप कार्य्य उत्पन्न नहीं हो सकता जैसाकि नील से पीत वर्ण की उत्पत्ति तथा वालू से तैल नहीं निकलसकता, अतएव कार्य्य को असत मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब और हेतु कहते हैं :—

कारणभावाच्च । ११८ ।

पद०—कारणभावात् । च ।

पदा०—(च) और (कारणभावत्) कारण के भावरूप होने से कार्य्य असत् नहीं हो सकता ।

भाष्य—जिस प्रकार मृत्तिका से उत्पन्न हुआ घटादि कार्य्य मृदात्मक तथा तन्तुओं से उत्पन्न हुआ पटादिकार्य्य तन्त्वात्मक होता है इसी प्रकार भावरूप कारण से उत्पन्न हुआ कार्य्य भी भावात्मक होता है अभावात्मक नहीं अर्थात् सत् असत् का परस्पर कार्य्य कारणभाव नहीं होसकता इसलिये कार्य्य असत् नहीं ।

सं०—अब असत्कार्य्यवादी भावरूपकार्य्य की उत्पत्ति में दोष कथन करता है :—

नभावेभावयोगश्चेत् । ११९ ।

पद०—न । भावे । भावयोगः । चेत् ।

पदा०—(भावे) भावरूपकारण में (भावयोगः) भावरूपकार्य्य का सम्बन्ध होता है (चेत्) यदि ऐसा मानाजाय तो उत्पत्ति अनुत्पत्ति की व्यवस्था (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य—यदि कारण के व्यापार से पूर्व कार्य्य को भावरूप मानाजाय तो **अनुत्पन्नोघटः** = अभी घट उत्पन्न नहीं हुआ, **उत्पन्नोघटः** = अब घट उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार कार्य्यमात्र की उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति की व्यवस्था नहीं होसक्ती अर्थात् जब उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में कार्य्य भावरूप से विद्यमान रहता है तो फिर उसकी उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति कैसे ? तात्पर्य्य यह है कि विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति दोनों का कथन सत्कार्य्यवादी के मत में नहीं बन सक्ता ।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

नाभिव्यक्तिनिबन्धनौव्यवहारा-व्यवहारौ । १२० ।

पद०—न । अभिव्यक्तिनिबन्धनौ । व्यवहाराव्यवहारौ ।

पदा०—(अभिव्यक्तिनिबन्धनौ) आविर्भाव के निमित्त से (व्यवहाराव्यवहारौ) उत्पत्ति का व्यवहार तथा अव्यवहार होता है इसलिये (न) उक्त दोष नहीं आता ।

भाष्य—कार्य्य की वर्त्तमान अवस्था का नाम "**अभिव्यक्ति**" है और इसी को "**आविर्भाव**" कहते हैं, सांख्यसिद्धान्त में कार्य्य

का आविर्भाव ही उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति का निमित्त होता है अर्थात् कार्य्य के आविर्भाव से उत्पत्ति तथा आविर्भाव न होने से अनुत्पत्ति का व्यवहार होता है, कारण व्यापार से पूर्व कार्य्य की वर्त्तमान अवस्था नहीं होती किन्तु अनागत अवस्था होती है इसलिये दोनों अवस्थाओं में कार्य्य भावरूप है और उसकी अभिव्यक्ति ही उत्पत्ति तथा अनुत्पत्तिरूप व्यवहार का हेतु है अतएव भावरूप-कार्य्य की उत्पत्ति में उक्त दोष नहीं आता।

सं०-ननु, यदि स्वरूप से कार्य्य को अनादि मानाजाय तो प्रकृति की भांति उसका भी नाश नहीं होगा? उत्तर :—

नाशःकारणलयः । १२१ ।

पद०-नाशः । कारणलयः ।

पदा०-(कारणलयः) कारण में कार्य्य का लय होना ही (नाशः) उसका नाश है।

भाष्य-निमित्तकारण द्वारा अतीतावस्था को प्राप्त हुआ कार्य्य अपने कारण में अभेद सम्बन्ध से विद्यमान रहताहै इसीको "**कार्य्य-नाश**" कहते हैं अर्थात् कारण में लीन हुए कार्य्य के अदर्शन का नाम ही "**कार्य्यनाश**" है,वैदिक सिद्धान्त में कार्य्य को भाव-रूप माना है इस कारण कार्य्य का नाश ध्वंसरूप नहीं किन्तु अपने कारण में लय होना ही कार्य्यनाश है और जो वैशेषिक मत में ध्वंस माना है वह कार्य्य के असद्रूप के अभिप्राय से नहीं किन्तु कारण में लय होने के अभिप्राय से है अतएव कार्य्य का नाश नहीं होता किन्तु लय होता है॥

इसका विशेष विस्तार वैशेषिकार्य्यभाष्य में किया है विशेष जनने वाले वहां देखलें।

सं०—ननु, यदि सत्कार्य्यवाद ही मानाजाय तो अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानने से अनवस्था दोष होगा ? उत्तर :—

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा वीजाङ्कुरवत् । १२२ ।

पद०—पारम्पर्यतः । अन्वेषणा । वीजाङ्कुरवत् ।

पदा०—(अन्वेषणा) सत्कार्य्य की अभिव्यक्ति को (पारम्पर्यतः) परम्परा से (वीजाङ्कुरवत्) वीजाङ्कुर की भांति माना है इसलिये उक्त दोष नहीं आता ।

भाष्य—जिस प्रकार वीज से अङ्कुर और अङ्कुर से पुनः वीज होता है और यह परम्परा अनन्त है इसी प्रकार कार्य्य की अभिव्यक्ति की परम्परा भी अनन्त है अर्थात् जिसप्रकार वीजाङ्कुर परम्परा में अनवस्था दोष नहीं आता इसी प्रकार कार्य्य की अभिव्यक्ति परम्परा में भी अनवस्थादोष नहीं आता क्योंकि कारण व्यापार से अनागत अवस्था वाले कार्य्य की केवल अभिव्यक्ति मानी है उत्पत्ति नहीं और जो अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति मानने में अनवस्था दोष दिया है वह उक्त वीजाङ्कुरन्याय से दूर होजाता है ।

सं०—अब इसी की पुष्टि में और हेतु कहते हैं :—

उत्पत्तिवद्वाऽदोषः । १२३ ।

पद०—उत्पत्तिवत् । वा । अदोषः ।

पदा०—(वा) अथवा (उत्पत्तिवत्) उत्पत्ति की भांति (अदोषः) अनवस्था दोष नहीं आता ।

भाष्य—सूत्र में "वा" शब्द अन्य समाधान के लिये आया है अर्थात् जिस प्रकार असत्कार्य्यवाद में अनवस्थादोष के भय से कार्य्यो-

त्पत्ति की उत्पत्ति को कार्य्योत्पत्तिरूप माना है इसी प्रकार सत्का-र्य्यवाद में कार्य्यअभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति भी कार्य्यअभि-व्यक्तिरूप है पृथक् नहीं, अतएव कार्य्य की अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति को कार्य्य की अभिव्यक्तिरूप मानने में अनवस्थादोष नहीं आता।

सं०—अब कार्य्य कारणभाव के उपयोगी साधर्म्य वैधर्म्य प्रकरण का आरम्भ करते हुए प्रथम महदादिकों का साधर्म्य कथन करते हैं:-

हेतुमदनित्यमव्यापिसक्रियमनेक-माश्रितंलिङ्गम् ।१२४।

पद०—हेतुमत् । अनित्यम् । अव्यापि । सक्रियम् । अनेकम् । अश्रितं । लिङ्गम् ।

पदा०—(हेतुमत्) कारण से उत्पन्न होनेवाला (लिङ्गम्) महत्तत्त्व से लेकर पञ्चभूतपर्य्यन्त प्रकृति का कार्य्य (अनित्यम्) विनाशी (अव्यापि) एकदेशी (सक्रियम्) क्रियाशील (अनेकम्) नाना (अश्रितं) और अपने अवयवों के आश्रित रहने वाला होता है।

भाष्य—समानधर्म का नाम "साधर्म्य" है, पञ्चभूतों से लेकर महत्तत्त्व पर्य्यन्त सम्पूर्ण कार्य्य पदार्थ समानधर्मवाले हैं आर्थात् वह सब हेतुमत् = कारणजन्य, विनाशी, एकदेशी, क्रियावाले तथा नाना प्रकार के और अपने अवयवों के आश्रित हैं।

तात्पर्य्य यह है कि कार्य्यमात्र कारणजन्यतादि धर्मोंवाला होता है और जो उक्त धर्मों वाले हैं उनका आपस में परस्पर साधर्म्य होता है।

सं०—ननु, महत्तत्त्वादि कार्य्य से भिन्न प्रकृतिरूपकारण की असिद्धि होने से उक्त साधर्म्य ठीक नहीं ? उत्तर :-

आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्या-देस्तत्सिद्धिःप्रधानव्यपदेशाद्वा ।१२५।

पद०-आञ्जस्यात् । अभेदतः । वा । गुणसामान्यादेः । तत्सिद्धिः । प्रधानव्यपदेशात् । वा ।

पदा०-(आञ्जस्यात्) कार्य्य के अन्वय व्यतिरेक से (वा) अथवा (गुणसामान्यादेः) सुखदुःखादि धर्मों के (अभेदतः) अभेद से (वा) और (प्रधानव्यपदेशात्) प्रधान शब्द के व्यवहार से (तत्सिद्धिः) प्रकृतिरूप कारण की सिद्धि होती है ।

भाष्य-कारण के होने से कार्य्य के होने का नाम "**अन्वय**" और कारण के न होने से कार्य्य के न होने का नाम "**व्यतिरेक**" है, अन्वय व्यतिरेक को "**आञ्जस्य**" कहते हैं और सुख, दुःख, मोह तथा परिणामित्वादि धर्मों की समानता का नाम "**गुणसामान्य**" है, इन धर्मों का कार्य्य में अनुगत होना ही अभेद = कारण की समानरूपता कहलाती है ।

तात्पर्य्य यह है कि कारण के बिना कार्य्य की उत्पत्ति नहीं होसक्ती इसलिये प्रकृति को महत्तत्त्वादि कार्य्यों का कारण मानना युक्त है जिसकी सिद्धि में अन्वयव्यतिरेक हेतु है ।

और प्रकृतिरूप कारण की सिद्धि में दूसरा हेतु यह है कि महत्तत्त्वादि सम्पूर्ण पदार्थ सुख दुःख मोह तथा परिणामित्वादि धर्मवाली प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं क्योंकि उनमें इन धर्मों का अन्वय पायाजाता है और यह नियम है कि जो कार्य्य जिस धर्म वाला होता है वह उसी धर्मवाले कारण से अन्वित होता है जैसाकि घटादि कार्य्य में मृत्तिका ही का अन्वय = सम्बन्ध देखाजाता है, अतएव महत्त-

त्त्वादिकों को प्रकृति का कार्य्य मानना ही युक्त है । तीसरा हेतु यह है कि "प्रधीयतेऽस्मिन्कार्य्यंजातमितिप्रधानम् = जिस में सम्पूर्ण कार्य्य लीन होजाता है उसको प्रधान कहते हैं और कार्य्यमात्र प्रकृति में ही लीन होता है, इस प्रकार शास्त्रों में प्रधान शब्द का व्यवहार पाएजाने से प्रकृति की सिद्धि में कोई बाधा नहीं । अतएव प्रकृतिरूप कारण की सिद्धि से महत्तत्त्वादि पदार्थों का हेतुमत्वादि साधर्म्य मानना असङ्गत नहीं ।

सं०-अब कार्य्य कारण का साधर्म्य निरूपण करते हैं:-

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः । १२६ ।

पद०-त्रिगुणाचेतनत्वादि । द्वयोः ।

पदा०-(द्वयोः) कार्य्य कारण दोनों का (त्रिगुणाचेतनत्वादि) त्रिगुण और अचेतनत्वादि साधर्म्य है ।

भाष्य-सूत्रमें "आदि" पद से अविवेकत्व, विषयत्व, समानत्व और प्रसवधर्मित्व का ग्रहण है । कार्य्य का नाम "व्यक्त" और कारण को "अव्यक्त" कहते हैं, त्रिगुणत्व = सत्त्वादि तीनों गुणोंवाला होना, अचेतनत्व = चेतन से भिन्न होना, अविवेकित्व = मिलकर कार्य्य को सम्पादन करना, विषयत्व = ग्राह्यरूप होना, समानत्व = प्रत्येक पुरुष के लिये भोग सम्पादन करना, प्रसवधर्मित्व = सम तथा विषम परिणामवाला होना, यह सब कार्य्य कारण में समान होने से दोनों का साधर्म्य है ।

सं०-ननु, यदि सत्त्वादि गुणों का परस्पर साधर्म्य वैधर्म्य माना जाय तो उनमें त्रित्व संख्या की सिद्धि नहीं हो सकती ? उत्तर :-

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् । १२७ ।

पद०–प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः । गुणानाम् । अन्योऽन्यं । वैधर्म्यम् ।

पदा०–(प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः) प्रीति, अप्रीति, विषादादि धर्मों के भेद से (गुणानाम्) सत्त्वादि गुणों का (अन्योऽन्यं) परस्पर (वैधर्म्यम्) वैधर्म्य है ।

भाष्य–विरुद्ध धर्म का नाम **"वैधर्म्य"** है । प्रीति = सुख, अप्रीति = दुःख, विषाद = मोहआदि धर्मों के भेद से सत्त्वादि गुणों का वैधर्म्य है अर्थात् प्रसन्नता, हलकापन, मिलाप, सुख,क्षमा,सन्तोष, श्रद्धा, दया, ज्ञानादि धर्मवाला **"सत्त्वगुण"** है ।

दुःख, शोक, द्वेष, ईर्षा, निन्दादि धर्मवाला **"रजोगुण"** है । मोह, भय, वञ्चन, नास्तिकता, कुटिलता, अज्ञानादि धर्म वाला **"तमोगुण"** है । अतएव उक्त वैधर्म्य से गुणों की त्रित्व संख्या में कोई वाधा नहीं ।

सं०–अब गुणों के साधर्म्य, वैधर्म्य का निरूपण करते हैं:-

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् । १२८ ।

पद०–लघ्वादिधर्मैः । साधर्म्यं । वैधर्म्यं । च । गुणानाम् ।

पदा०–(गुणानाम्) सत्त्वादि गुणों का (लघ्वादिधर्मैः) लघुतादि धर्मों से (साधर्म्यं) साधर्म्य (च) और (वैधर्म्यं) वैधर्म्य होता है ।

भाष्य–लघु तथा प्रकाश स्वभाव वाला **"सत्त्वगुण"** चलं =

क्रियात्मक "**रजोगुण**" और गुरु तथा आवरण स्वभाव वाला "**तमोगुण**" होता है अर्थात् लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व, धर्मों से तीनों गुणों का परस्पर "**वैधर्म्य**" और पुरुषार्थत्व = पुरुष के लिये भोग तथा मोक्ष को सम्पादन करना, अभिभववृत्तित्व = एक दूसरे से दबजाना "**साधर्म्य**" है ॥

सं०—ननु, महत्तत्त्वादिकों का हेतुमत्त्वादि साधर्म्य नहीं होसक्ता क्योंकि उनके कार्य्यरूप होने में कोई प्रमाण नहीं ? उत्तर :—

उभयान्यत्वात् कार्य्यत्वं महदादेर्घटा-दिवत् । १२९ ।

पद०—उभयान्यत्वात् । कार्य्यत्वं । महदादेः । घटादिवत् ।

पदा०—(घटादिवत्) घटादि की भांति (महदादेः) महत्तत्त्वादि (उभयान्यत्वात्) प्रकृति तथा पुरुष से भिन्न हैं इसलिये उनकी (कार्य्यत्वं) कार्य्यता पाई जाती है ।

भाष्य—प्रकृति, पुरुष दोनों से महदादिक भिन्न हैं इसलिये वह कार्य्य हैं जैसाकि घट मृत्तिका से भिन्न होने के कारण कार्य्य है क्योंकि मृत्तिका कहने से घट का बोध नहीं होता और न घट कहने से मृत्तिका का बोध होता है इसीप्रकार प्रकृति और पुरुष कहने से महत्तत्त्वादिकों का बोध नहीं होता ।

तात्पर्य्य यह है कि जो पदार्थ भोग्य तथा विनाशी होता है वह कार्य्यरूप होने के कारण प्रकृति तथा पुरुष से भिन्न होता है, इससे सिद्ध हुआ कि महत्तत्त्वादिक प्रकृति पुरुष से भिन्न कार्य्यरूप हैं ।

सं०—अब और हेतु कहते हैं :—

परिमाणात् । १३० ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(परिमाणात्) परिच्छिन्न होने से महदादिक कार्य्य-रूप हैं ।

भाष्य—जिस प्रकार घटादि पदार्थ परिच्छिन्न होने से कार्य्य-रूप हैं इसी प्रकार महत्तत्त्वादिक भी परिमाण वाले होने से कार्य्य-रूप हैं ।

सं०—और हेतु कहते हैं :—

समन्वयात् । १३१ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(समन्वयात्) महदादिकों में प्रकृति के धर्मों की समानरूपता पाईजाती है इसलिये वह कार्य्यरूप हैं ।

भाष्य—कारण के गुणों का कार्य्य में समानरूप से रहने का नाम "समन्वय" है । इस समन्वयरूप हेतु से महदादिकों की कार्य्यता सिद्ध होती है ।

तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार श्वेत पट को देखने से ज्ञात होता है कि यह अपने समानरूपवाले कारण से उत्पन्न हुआ है अन्यथा इसमें श्वेतरूपता का समन्वय न होता इसी प्रकार महदादिकों में प्रकृति के गुणों का समन्वय पाए जाने से इनकी कार्य्यता सिद्ध होती है ।

सं०—अब अन्य हेतु कहते हैं :—

शक्तितश्चेति । १३२ ।

पद०—शक्तितः । च । इति ।

पदा०-(च) और (शक्तितः, इति) परिमित शक्तिवाले होने से महदादि कार्य्यरूप हैं ।

भाष्य-सम्पूर्ण कार्य्यों में कारण की अपेक्षा परिमित शक्ति पाईजाती है जैसाकि मृत्तिका से अनेक घटादि निर्माणादि प्रयोजनों की सिद्धि होती है, परन्तु घटादि कार्य्यों से अनेक प्रयोजनों की सिद्धि नहीं होसक्ती, इसलिये वह कार्य्य है । इसी प्रकार महदादिकों में प्रकृति की अपेक्षा परिमित सामर्थ्य पाया जाता है अतएव वह कार्य्यरूप हैं ।

विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि करण = साधकतमकारण का नाम शक्ति है और जो २ करण होता है वह अवश्य कार्य्यरूप होता है जैसाकि चक्षुरादि इन्द्रिय पुरुष के करण हैं और अहङ्कार के कार्य्य हैं, इसी प्रकार महदादिक भी पुरुषार्थ की सिद्धि में करणरूप होने से कार्य्यरूप हैं ।

सं०-ननु, महदादिकों को कार्य्यरूप न मानने में क्या हानि ? उत्तर :-

तद्धाने प्रकृतिःपुरुषो वा । १३३ ।

पद०-तद्धाने । प्रकृतिः । पुरुषः । वा ।

पदा०-(तद्धाने) महदादिकों को कार्य्यरूप न मानाजाय तो (प्रकृतिः, पुरुषः, वा) प्रकृति अथवा पुरुषरूप मानना पड़ेगा ।

भाष्य-यदि महदादिकों को कार्य्यरूप न मानाजाय तो वह अकार्य्यरूप होने से प्रकृति व पुरुषरूप मानने पड़ेंगे और यह ठीक नहीं क्योंकि महदादि विनाशी और प्रकृति, पुरुष अविनाशी नित्य हैं इसलिये महदादि को कार्य्यरूप ही मानना ठीक है ।

सं०—ननु, महदादिकों को प्रकृति पुरुष से भिन्न कार्य्यरूप न मानने में क्या हानि ? उत्तर :—

तयोरन्यत्वेतुच्छत्वम्। १३४।

पद०—तयोः । अन्यत्वे । तुच्छत्वम् ।

पदा०—(तयोः) प्रकृति पुरुष से (अन्यत्वे) भिन्न कार्य्यरूप न मानने से (तुच्छत्वम्) महदादिकों को तुच्छ मानना पड़ेगा ।

भाष्य—जो प्रकृति पुरुष से भिन्न है और कार्य्यरूप भी नहीं वह शशशृङ्ग के समान तुच्छ होता है, यदि महदादिकों को कार्य्य-रूप न मानाजाय तो शशशृङ्ग की भांति तुच्छ मानने पड़ेंगे और महदादिकों का तुच्छ मानना ठीक नहीं क्योंकि उनकी सत्ता पाई-जाती है अतएव कार्य्यरूप मानना ही युक्त है ।

सं०—अब महदादि कार्य्य से प्रकृतिरूप कारण का अनुमान कथन करते हैं :—

कार्य्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात्। १३५।

पद०—कार्य्यात् । कारणानुमानं । तत्साहित्यात् ।

पदा०—(तत्साहित्यात्) कार्य्य के सहभावरूप नियम से(कार्य्यात्) महदादिकार्य्यद्वारा (कारणानुमानं) प्रकृतिरूप उपादान कारण का अनुमान होता है ।

भाष्य—जहां २ कार्य्य होता है वहां २ ही कारण होता है, इस प्रकार कार्य्य कारण की व्याप्ति को "कार्य्यसाहित्य" कहते हैं और इसी का नाम "कार्य्यवैशिष्ट्य" है, इस नियमानुसार मह-दादि कार्य्यों के देखने से प्रकृतिरूप कारण की अनुमान द्वारा सिद्धि होती है ।

सं०—अब प्रकृति की अव्यक्तरूपता कथन करते हैं :—

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् । १३६ ।

पद०—अव्यक्तं । त्रिगुणात् । लिङ्गात् ।

पदा०—(त्रिगुणात्) त्रिगुणात्मक (लिङ्गात्) लिङ्ग पाए जाने से महदादिकों की अपेक्षा से (अव्यक्तं) प्रकृति अव्यक्त है ।

भाष्य—महदादिकार्य्य व्यक्त = स्थूल और प्रकृति अव्यक्त = सूक्ष्म है क्योंकि महत्तत्त्व के कार्य्य सुखादिकों का प्रत्यक्ष होता है और सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति का कोई गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये प्रकृति को अव्यक्त मानना युक्त है ।

सं०—ननु, यदि प्रकृति अव्यक्तरूप है तो शशशृङ्ग की भांति तुच्छ होनी चाहिये ? उत्तर :—

तत्कार्य्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः । १३७ ।

पद०—तत्कार्य्यतः । तत्सिद्धेः । न । अपलापः ।

पदा०—(तत्कार्य्यतः) प्रकृति के कार्य्यभूत महदादिकों से (तत्सिद्धेः) कारणभूत प्रकृति की सिद्धि होती है, इसलिये उसका (अपलापः) वाध (न) नहीं हो सक्ता ।

भाष्य—यद्यपि प्रकृति अव्यक्तरूप है तथापि शशशृङ्ग की भांति तुच्छ नहीं हो सक्ती क्योंकि महदादि कार्य्यों के देखने से उसका अनुमान किया जाता है ।

सं०—ननु, महदादि कार्य्य के देखने से उपादान कारण प्रकृति की सिद्धि हो परन्तु प्रकृति से भिन्न पुरुष की सिद्धि नहीं हो सक्ती ? उत्तर :—

सामान्येनविवादाभावाद्धर्मवन्न

साधनम् । १३८ ।

पद०–सामान्येन । विवादाभावात् । धर्मवत् । न । साधनम् ।

पदा०–(धर्मवत्) धर्म की भांति (सामान्येन) सामान्यरूप से (विवादाभावात्) पुरुष में विवाद न होने से (साधनम्) उसकी सिद्धि की (न) अपेक्षा नहीं ।

भाष्य–जिस वस्तु में सामान्य से ही विवाद नहीं उसकी सिद्धि में साधनों की कोई अपेक्षा नहीं अर्थात् सर्व वादियों ने अहंप्रतीति के आश्रय को सामान्यरूप से माना है इसलिये पुरुष के सामान्यरूप अर्थात् उसकी सत्ता में कोई विवाद नहीं, जैसे बौद्धादि सम्पूर्ण मतवाले धर्म को मानते हैं इसलिये उसकी सामान्यरूप से सिद्धि होने से किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं इसी प्रकार पुरुष की सिद्धि में भी किसी विशेष साधन की अपेक्षा नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि चेतनतारूप लिङ्ग से अनुमान द्वारा पुरुष की सिद्धि होती है और वह सबको स्वीकार है ।

सं०–अब विशेषरूप से पुरुष का निरूपण करते हुए प्रथम उसको शरीरादि से भिन्न कथन करते है :—

शरीरादिव्यतिरिक्तःपुमान् । १३९ ।

पद०–शरीरादिव्यतिरिक्तः । पुमान् ।

पदा०–(पुमान्) पुरुष (शरीरादिव्यतिरिक्तः) शरीरादिकों से भिन्न है ।

भाष्य–सूत्र में "आदि" पद से प्रकृति पर्य्यन्त पदार्थों का ग्रहण है अर्थात् प्रकृति से लेकर स्थूल भूतों तक जो २४ पदार्थ हैं उन सब से पुरुष पृथक् है ।

सं०-अब उक्त प्रतिज्ञा में हेतु कहते हैं :--

संहतपरार्थत्वात् । १४० ।

पद०-एकपद ।

पदा०-(संहतपरार्थत्वात्) प्रकृत्यादिक परार्थ होने से पुरुष देहादि से भिन्न है ।

भाष्य-शरीर से लेकर प्रकृति पर्य्यन्त पदार्थों का नाम "संहत" है और इसी को "संघात" कहते हैं, यह सम्पूर्ण संघात शय्यादि के समान परार्थ होता है अर्थात् किसी दूसरे के लिये होता है और जिसके लिये होता है वह उससे अन्य है उसी का नाम पुरुष है और वह प्रकृत्यादि से भिन्न है ।

सं०-अब अन्य हेतु कहते हैं :--

त्रिगुणादिविपर्य्ययात् । १४१ ।

पद०-एकपद ।

पदा०-(त्रिगुणादिविपर्य्ययात्) त्रिगुणादि = प्रकृति और प्रकृति के कार्य्य उनसे विपरीत होने के कारण पुरुष प्रकृत्यादि से भिन्न है ।

भाष्य-सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों के जो सुख दुःख मोह आदि धर्म हैं और "आदि" पद से जो अविवेकादिक हैं इनसे विपर्य्यय = विपरीत होने के कारण पुरुष प्रकृत्यादि से भिन्न है ।

सं०-और हेतु कहते हैं :--

अधिष्ठानाच्चेति । १४२ ।

पद०-अधिष्ठानात् । च । इति ।

पदा०—(च) और (अधिष्ठनात्, इति) शरीरादि का अधिष्ठाता होने से पुरुष शरीरादिकों से भिन्न है ।

भाष्य—जिस प्रकार रथ का अधिष्ठाता = सारथी रथ से भिन्न होता है इसी प्रकार शरीरादि का अधिष्ठाता पुरुष भी शरीरादि से भिन्न है ।

तात्पर्य्य यह है कि शरीरादि जड़ होने के कारण स्वयं अधिष्ठाता नहीं होसक्ते इसलिये जो उनका अधिष्ठाता है वही पुरुष है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि यद्यपि प्रकृति का मुख्य अधिष्ठाता ईश्वर है जीव नहीं तथापि भोक्ता वा कार्य्य कारण के अभेद द्वारा बुद्धिरूप प्रकृति का प्रेरक होने से जीव को अधिष्ठाता कहा गया है ।

सं०—अब उक्त हेतुओं में अनुकूल तर्क कथन करते हैं :—

भोक्तृभावात् । १४३ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(भोक्तृभावात्) भोक्ता होने से पुरुष देहादिकों से भिन्न है ।

भाष्य—यदि शरीरादि से भिन्न चेतन पुरुष भोक्ता न माना जाय तो भोक्तृत्व की सिद्धि नहीं होसक्ती क्योंकि जड़ शरीरादिक स्वयं भोक्ता तथा भोग्य नहीं होसक्ते इसलिये जो भोक्ता है वह शरीरादिकों से भिन्न है ।

सं०—अब और तर्क कहते हैं :—

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च । १४४ ।

पद०—कैवल्यार्थं । प्रवृत्तेः । च ।

पदा०-(च) और (कैवल्यार्थं) मोक्ष के लिये (प्रवृत्तेः)प्रवृत्ति देखे जाने से पुरुष शरीरादि से भिन्न है।

भाष्य-जैसे रथ का प्रेरक चेतन रथ को चलाता हुआ अन्त में श्रान्त होकर रथ चलाने का त्याग कर देता है इसी प्रकार बुद्धि आदि की प्रेरणा करता हुआ पुरुष दुःखात्यन्तानिवृत्तिरूप मोक्ष के लिये प्रवृत्त होता है, यह प्रवृत्ति पुरुष को शरीरादि से भिन्न सिद्ध करती है।

यदि शरीरादि को ही भोक्ता माना जाय तो मोक्ष के लिये किसी पुरुष की प्रवृत्ति न होनी चाहिये, शरीरादि विनाशी होने से नष्ट होजाते हैं और प्रकृति दुःख स्वभाव सिद्ध होने से उसमें दुःखात्यन्तानिवृत्तिरूप मोक्ष की सिद्धि होनी असम्भव है इसलिये पुरुष शरीरादि से भिन्न है।

सं०-अब पुरुष का स्वरूप कथन करते हैं:-

जड़प्रकाशायोगात् प्रकाशः। १४५।

पद०-जड़प्रकाशायोगात्। प्रकाशः।

पदा०-(जड़प्रकाशायोगात्) पुरुष प्राकृत प्रकाश वाला नहीं किन्तु (प्रकाशः) ज्ञानस्वरूप है।

भाष्य-पुरुष में जो स्वरूपभूत ज्ञान है वह किसी पदार्थान्तर की सहायता से नहीं आता किन्तु स्वतः सिद्ध हैं इसलिये पुरुष ज्ञान-स्वरूप है।

सं०-ननु, प्रकाशरूप माननेपर ज्ञानरूप प्रकाश उसका गुण मानना पड़ेगा ? उत्तर:-

निर्गुणत्वान्नचिद्धर्मा। १४६।

पद०-निर्गुणत्वात्। न। चिद्धर्मा।

पदा०-(निर्गुणत्वात्) पुरुष निर्गुण होने से (चिद्धर्मा) ज्ञान गुणवाला (न) नहीं हो सक्ता ।

भाष्य-पुरुष में धर्मधर्मिभाव इसलिये कल्पना नहीं किया जा सक्ता कि वह निराकार है और उसका ज्ञान स्वरूपभूत है गुणरूप नहीं, स्वरूपभूत को ही ज्ञानगुण से कथन किया जाता है, सांख्य सिद्धान्त में ज्ञान को स्वरूपभूत माना है, जैसाकि "जड़व्यावृत्तो-जडंप्रकाशयतिचिद्रूपः" सां०६ । ५० इस सूत्र में यह कथन किया है कि पुरुष जड़ बुद्धि आदिकों से भिन्न है और उनका प्रकाशक है इसलिये ज्ञानस्वरूप है अतएव ज्ञानरूपप्रकाश उसका गुण नहीं हो सक्ता ।

सं०-ननु, नीलोघटः, शुक्लःपटः, अहंज्ञानवान्, एवं घटपटादिकों के समान पुरुष में ज्ञानगुण की प्रतीति होती है फिर कैसे कहा जाता है कि पुरुष में ज्ञान गुण नहीं? उत्तरः—

श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्ष-वाधात् । १४७ ।

पद०-श्रुत्या । सिद्धस्य । न । अपलापः । तत्प्रत्यक्षवाधात् ।

पदा०-(श्रुत्या, सिद्धस्य) श्रुति से जो पुरुष असंग सिद्ध है उसका (अपलापः) छिपाना (न) नहीं होसक्ता (तत्प्रत्यक्षवाधात्) उस प्रत्यक्ष का वाध पाए जाने से ।

भाष्य-मैं गौर हूं, मैं श्याम हूं, इत्यादि देहात्मप्रत्ययवत् उस प्रत्यक्ष का वाध होजाता है जो "मैं ज्ञानवान् हूं" इसको विषय करता है, इसलिये मैं ज्ञानवाला हूं इत्यादि प्रत्यक्ष भी भ्रममूलक है ।

सं०-और युक्ति यह है कि :—

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् । १४८ ।

पद०–एकपद ।

पदा०–(सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम्) सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का असाक्षित्वम् = साक्षी न रहेगा ।

भाष्य–यदि प्रकृति के गुणों से ही पुरुष को चेतन मानाजाय तो जब सुषुप्ति अवस्था में प्राकृत वृत्ति नहीं रहती उस समय उसका साक्षी कोई नहीं होना चाहिये और उस समय में उसका साक्षी चेतन पुरुष होता है जो जागकर यह कहता है कि मैं बड़े सुख से सोया, इससे पाया जाता है कि चेतन पुरुष ज्ञानस्वरूप है प्रकृति के गुणों से प्रकाशित नहीं ।

सं०–एवं प्रकृति से भिन्न जीव को ज्ञानस्वरूप प्रतिपादन करके अब जीवों का अनेक होना प्रतिपादन करते हैं :—

जन्मादिव्यवस्थातःपुरुषबहुत्वम् । १४९ ।

पद०–जन्मादिव्यवस्थातः । पुरुषबहुत्वम् ।

पदा०–(जन्मादिव्यवस्थातः) जन्मादि की व्यवस्था से (पुरुषबहुत्वम्) पुरुष नाना हैं ।

भाष्य–कोई उत्पन्न होता है, कोई मरता है, कोई बद्ध, कोई मुक्त, कोई सुखी, कोई दुःखी, इस प्रकार की व्यवस्था पाए जाने से पुरुष नाना हैं । यदि पुरुष एक ही होता तो एक के सुख दुःख से सब सुखी दुःखी होने चाहियें परन्तु ऐसा न होने से पुरुष नाना हैं ।

सं०–ननु, एक चेतन ही उपाधिभेद से नानाभाव को प्राप्त हो सक्ता है फिर जीव नाना मानने की क्या आवश्यक्ता है ? उत्तर :–

उपाधिभेदेऽप्येकस्यनानायोगआकाश-

स्येवघटादिभिः । १५० ।

पद०—उपाधिभेदे । अपि । एकस्य । नानायोगः । आकाशस्य । इव । घटादिभिः ।

पदा०—(एकस्य) एक पदार्थ का (नानायोगः) नाना पदार्थों के साथ योग होने पर (उपाधिभेदे, अपि) उपाधिभेद से भी व्यवस्था नहीं होसक्ती क्योंकि (आकाशस्य, इव, घटादिभिः) जैसे घटादि उपाधियें आकाश को भिन्न करती हैं इसी प्रकार भेद मानना पड़ेगा ।

भाष्य—उपाधिकृत भेद मानने से भी एक चेतन नाना भावों को प्राप्त नहीं होसक्ता क्योंकि ऐसा भेद घटाकाश के समान होता है ।

सं०—ननु, घटाकाश के समान भेद मानने से एकचेतन घटाकाशवत् नाना होसक्ता है इसमें क्या दोष ? उत्तर :—

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् । १५१ ।

पद०—उपाधिः । भिद्यते । न । तु । तद्वान् ।

पदा०—(उपाधिः, भिद्यते) उपाधि भेद को प्राप्त होती है (तद्वान्) उपाधिवाला (न) नहीं (तु) शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है ।

भाष्य—घटाकाश के दृष्टान्त में भी आकाश एक ही बना रहता है उसमें कोई भेद नहीं होता, भेद केवल घटरूप उपाधि में होता है इसलिये उपाधिकृत एक चेतन में नानापन नहीं होसक्ता ।

सं०—इस विषय में और दोष यह है किः—

एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्ध-धर्माध्यासः । १५२ ।

पद०—एवम् । एकत्वेन । परिवर्त्तमानस्य । न । विरुद्धधर्माध्यासः ।

पदा०—(एवम्) इस प्रकार (एकत्वेन) एक सत्ता से (परि-वर्त्तमानस्य) वर्त्तमान पदार्थ के (विरुद्धधर्माध्यासः) सुख दुःखादि धर्मों की भिन्न२ प्रतीति (न) नहीं होनी चाहिये ।

भाष्य—यदि एक ही चेतन सब में मानाजाय तो एक के सुखी होने पर सब सुखी और एक के दुःखी होने पर सब दुःखी होने चाहियें, पर ऐसा नहीं होता इससे पाया जाता है कि एक जीव सब शरीरों में नहीं किन्तु नाना हैं ।

सं०—ननु, सुख दुःखादिक तो अन्तःकरण के धर्म हैं वह भिन्न२ अन्तःकरण से भिन्न२ प्रतीत होते हैं इससे एकत्व की क्या हानि ? उत्तर :-

अन्यधर्मत्वेऽपिनारोपात् तत्सिद्धि-रेकत्वात् । १५३ ।

पद०—अन्यधर्मत्वे । अपि । न । आरोपात् । तत्सिद्धिः । एकत्वात् ।

पदा०—(अन्यधर्मत्वे, अपि) सुख दुःखादिकों को अन्य का धर्म मानने पर भी (आरोपात्) चेतन में केवल आरोप करलेने से (तत्सिद्धिः) सुख दुःखादिकों की भिन्न२ रूप से सिद्धि (न) नहीं होसक्ती क्योंकि (एकत्वात्) जो उनके अनुभव करने वाला आत्मा है वह एक ही है ।

भाष्य—यदि सुख दुःखादि अन्तःकरण के धर्म मानकर यह व्यवस्था की जाय कि अन्तःकरण नाना हैं इसलिये भिन्न२ अन्तः-करणों के कारण सुख दुःख की भिन्न२ प्रतीति होजायगी इसलिये एक चेतन मानने में भिन्न २ सुखदुःख की अनुपपत्ति नहीं होगी,

यह भी ठीक नहीं क्योंकि नाना अन्तःकरणों के होने पर भी अनुभव करनेवाला आत्मा तो फिर भी एक ही है इसलिये एक का सुख दुःख सबको भान होना चाहिये पर ऐसा नहीं होता, इससे पाया जाता है कि जीव नाना हैं एक नहीं।

सं०—ननु, नाना जीव मानने पर अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध आवेगा अर्थात् जो श्रुतियें पुरुष को एक प्रतिपादन करती हैं उनकी सङ्गति न होगी ? उत्तर :—

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् । १५४ ।

पद०—न । अद्वैतश्रुतिविरोधः । जातिपरत्वात् ।

पदा०—(अद्वैतश्रुतिविरोधः) अद्वैत की प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध (न) नहीं होसक्ता क्योंकि (जातिपरत्वात्) वह श्रुतियें पुरुष को चैतन्यजाति से एक कथन करती हैं।

भाष्य—"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं" ऋ० ८।४।१७ इत्यादि श्रुतियों में जो पुरुष को एक प्रतिपादन किया है वह जाति के अभिप्राय से है वास्तव में एक प्रतिपादन करने का तात्पर्य्य नहीं।

सं०—और युक्ति यह है कि :—

विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्याऽतद्रूपम् । १५५ ।

पद०—विदितबन्धकारणस्य । दृष्ट्या । अतद्रूपम् ।

पदा०—(विदितबन्धकारणस्य) ज्ञानी की (दृष्ट्या) दृष्टि से (अतद्रूपम्) एक ही पुरुष की प्रतीति होती है।

भाष्य—"तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्" योग० १।३।

इत्यादि सूत्रों में एकत्व की प्रतीति कथन की है इसी प्रकार अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियें भी समाधि अवस्था में एकत्व को कथन करती हैं वास्तव में नहीं ।

सं०—ननु, ऐसे एकत्व का सबको भान नहीं होता फिर इसमें क्या प्रमाण ? उत्तर :–

नान्धदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः।१५६।

पद०—न । अन्धदृष्ट्या । चक्षुष्मताम् । अनुपलम्भः ।

पदा०–(अन्धदृष्ट्या) अन्धे पुरुष की दृष्टि से (चक्षुष्मताम्) आखों वाले को (अनुपलम्भः) पदार्थ की अप्रतीति (न) नहीं होती ।

भाष्य–यदि असमाहित चित्तवाला पुरुष समाधि के एकत्व को अनुभव नहीं कर सक्ता तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ऐसा एकत्व किसी को प्रतीत होता ही नहीं, जैसाकि अन्धे को जो वस्तु दृष्टि नहीं पड़ती वह चक्षुः वालों को दीख पड़ती है, एवं समाधि अवस्था का एकत्व समाधि चक्षु वालों को ही प्रतीत होता है इतरों को नहीं, इस प्रकार अद्वैत की प्रतिपादक श्रुति का विरोध नहीं ।

सं०—ननु, यदि अद्वैतश्रुति वास्तव में एकही चेतन को प्रतिपादन करे तो क्या दोष ? उत्तर :–

बामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् । १५७ ।

पद०—बामदेवादिः । मुक्तः । न । अद्वैतम् ।

पदा०–(बामदेवादिः) बामदेवादिक (मुक्तः) मुक्त होगए और बन्ध अबतक बना हुआ है इससे (अद्वैतम्) अद्वैत (न) सिद्ध नहीं होता ।

भाष्य—यदि एक ही आत्मा सब शरीरों में होता तो क्या कारण कि वामदेवादिकों के मुक्त होने पर सब की मुक्ति नहीं हुई, इससे पायाजाता है कि अद्वैत नहीं।

सं०—ननु, यह दोष तो तुम्हारे मत में भी समान है क्योंकि जीव नाना हैं और ईश्वर के ज्ञान में संख्यात हैं यदि एक कल्प में एक भी मुक्त हो तो आजतक अन्त होना चाहिये? उत्तर :—

अनादावद्ययावदभावाद्भविष्य-दप्येवम्। १५८।

पद०—अनादौ। अद्य। यावत्। अभावात्। भविष्यत्। अपि। एवम्।

पदा०—(अनादौ) इस अनादिसंसार में और (अद्य, यावत्) आजतक (अभावात्) ऐसा कोई मुक्त नहीं हुआ जो पुनरावृत्ति रहित हो इसलिये (भविष्यत् अपि, एवम्) भविष्यत् काल में भी ऐसा ही होगा।

सं०—इसी बात को आगे सूत्र में वर्णन करते हैं :—

इदानीमिवसर्वत्रनात्यन्तोच्छेदः। १५९।

पद०—इदानीम्। इव। सर्वत्र। न। अत्यन्तोच्छेदः।

पदा०—(इदानीम्, इव) आजकल के समान (सर्वत्र) सब काल में (अत्यन्तोच्छेदः) संसार के प्रवाह का अंत (न) नहीं होता।

भाष्य—जिसप्रकार अब कई एक बद्ध हैं और कई एक मुक्त हैं, इसी प्रकार सदैव संसार बना रहेगा, इससे पायाजाता है कि मुक्तपुरुष की मुक्ति स्वरूपभूत नहीं किन्तु अवस्था विशेष है जो नियत समय तक रहती है, इसलिये यह संसार चक्र प्रवाहरूप से अनादि अनन्त है। यदि मुक्ति से पुनरावृत्ति न होती तो एक २ करके सब मुक्त होने पर

आजतक संसार चक्र का अन्त होजाता, पर ऐसा न होने से पायाजाता है कि मुक्ति निय नहीं।

सं०—अब प्रसङ्ग सङ्गति से इस संसार चक्र के चालक ईश्वर का वर्णन करते हुए अध्याय का उपसंहार करते हैं :—

व्यावृत्तोभयरूपः । १६० ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(व्यावृत्तोभयरूपः) उभयरूप = प्रकृति और पुरुष के स्वरूप से जो व्यावृत्त = पृथक् है वह ईश्वर है।

भाष्य—प्रवाहरूप से अनादि इस संसार चक्र का चलाने वाला वह ईश्वर है जो प्रकृति और पुरुष के स्वरूप से भिन्न है, प्रकृति परिणामि नित्य है इसलिये केवल सद्रूप है और पुरुष कूटस्थनित्य केवल सच्चित् स्वरूप है और परमात्मा इन दोनों से विलक्षण सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वकर्त्ता, हरता, धरता, सर्वाधिष्ठान इत्यादि अनन्त गुणों की राशि है जैसाकि "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया" ऋ० । २ । ३ । १७ । २० इस मंत्र में वर्णन किया है कि प्रकृतिरूपी वृक्ष में ईश्वर व्यापक है और जीव चेतन पुण्य पाप के फल का भोक्ता है। इस प्रकार उक्त दोनों पदार्थों से ईश्वर विलक्षण है।

सं०—और विशेषता यह है कि :—

साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम् । १६१ ।

पद०—साक्षात्सम्बन्धात् । साक्षित्वम् ।

पदा०—(साक्षात्सम्बन्धात्) स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से वह परमात्मा इन दोनों का (साक्षित्वम्) साक्षी है।

भाष्य–प्रकृति और पुरुष के साथ उसका किसी इन्द्रिय द्वारा सम्बन्ध नहीं किन्तु स्वतन्त्र सम्बन्ध है इसलिये उस सम्बन्ध को साक्षात्सम्बन्ध कहा गया है, वह सम्बन्ध स्वस्वामिभाव है अथवा शरीर शरीरीभाव है जैसाकि बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामीब्राह्मण में कथन किया है कि **"यः पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्** = जो पृथिवी में रहता है और पृथिवी का अन्तर्यामी है जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिस का पृथिवी शरीर है । इस प्रकार इस सम्बन्ध को शरीर शरीरीभाव सम्बन्ध भी कहते हैं ।

सं०–अब परमात्मा की और विशेषता कथन करते हैं :–

नित्यमुक्तत्वम् । १६२ ।

पद०–एकपद ।

पदा०–(नित्यमुक्तत्वम्) वह परमात्मा सदा मुक्त स्वभाव है ।

भाष्य–परमात्मा सर्वथा स्वतन्त्र होने से नित्यमुक्तस्वभाव है अर्थात् उस परमात्मा का कोई स्वामी नहीं और वह किसी के बन्धन में नहीं आता ।

सं०–वह परमात्मा नित्यमुक्त क्यों है ? उत्तर :–

औदासीन्यं चेति । १६३ ।

पद०–औदासीन्यं । च । इति ।

पदा०–"इति" शब्द हेतु के अर्थ में है (औदासीन्यं) वह परमात्मा उदासीन है (च) और पर्य्याप्त काम है इसलिये नित्य-मुक्त है ।

भाष्य–परमात्मा अभोक्ता है इसलिये उसको उदासीन शब्द से

कथन किया गया है और अभोक्ता होने से वह नित्यमुक्त है अर्थात् उसको किसी फल की इच्छा नहीं क्योंकि वह पर्य्याप्त काम है।

सं०—ननु, नित्यमुक्त ईश्वर जगत् का कर्त्ता कैसे होसक्ता है? उत्तरः—

उपरागात्कर्त्तृत्वंचित्सानिध्यात् चित्सानिध्यात्। १६४।

पद०—उपरागात्। कर्त्तृत्वम्। चित्सानिध्यात्। चित्सानिध्यात्।

पदा०—(उपरागात्) प्रकृतिके सम्बन्ध से उसमें (कर्त्तृत्वम्) कर्त्तापन है और प्रकृति में (चित्सानिध्यात्) उस परमात्मा की प्रेरणा से कर्त्तृत्व है।

भाष्य—ईश्वर निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण है। इन दोनों कारणों को इस सूत्र में वर्णन किया है "चित्सानिध्यात्" पद दुवारा अध्याय की समाप्ति के लिये आया है।

ईश्वर प्रयोजककर्त्ता होने से गौणकर्त्ता है और प्रकृति में मुख्य कर्त्तृत्व है यह सांख्य सिद्धान्त है जैसाकि "प्रकृतेःक्रियमाणानि-गुणैःकर्माणिसर्वशः" गी० ३।२७ इस श्लोक में यह वर्णन किया है कि प्रकृति के गुणों से ही यह सब रचना होती है, एवं प्रकृति और परमात्मा दोनों मिलकर संसार के कारण हैं।

इस सांख्य सिद्धान्त को न समझकर अविवेकी पुरुष यह मान बैठते हैं कि सांख्य शास्त्रकार ने केवल प्रकृति को ही कर्त्ता माना है ईश्वर को नहीं, यह उनकी भूल है क्योंकि ईश्वर का प्रतिपादन उक्त सूत्रों में स्पष्टरीति से किया गया है।

ननु-"ईश्वरासिद्धेः" सां० १।९३ इस प्रकरण में ईश्वर का निरूपण किया गया है फिर यहां ईश्वर विषय का निरूपण करना पुनरुक्ति है ? उत्तर—उस प्रकरण में ईश्वर विषय का दिक्प्रदर्शन किया गया है अर्थात् अल्प कहा गया है और इस स्थल में जीव तथा प्रकृति से भिन्न ईश्वर का स्पष्टरूप से वर्णन किया है इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं ।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
सांख्यार्य्यभाष्ये
प्रथमाध्यायः

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति–प्रथमाध्याय में बन्ध, मोक्ष, ईश्वर तथा प्रकृति का विस्तार पूर्वक वर्णन किया, अब इस अध्याय में प्रकृति का ईश्वराधीन होना, जीवों के लिये भोग मोक्ष सम्पादन करना तथा अष्टादश तत्त्वों का निरूपण करते हुए प्रथम प्रकृति का जगत् रचना में प्रयोजन कथन करते हैं :–

विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य । १ ।

पद०–विमुक्तमोक्षार्थं । स्वार्थं । वा । प्रधानस्य ।

पदा०–(विमुक्तमोक्षार्थं) पुरुष की मुक्ति के लिये (वा) अथवा (स्वार्थं) अपने अधिकार को पूरा करने के लिये प्रकृति जगत् की रचना करती है ।

भाष्य–जगत् का उपादानकारण होने में प्रकृति के दो प्रयोजन पाएजाते हैं एक यह कि जिन पुरुषों के चित्त का गुणाधिकार समाप्त होचुका है उनके साथ प्रकृति का सम्बन्ध नहीं रहता तब वह मुक्त होजाते हैं, दूसरा यह कि भोग तथा मोक्ष को सम्पादन करना प्रकृति का अपना अधिकार है उसकी समाप्ति जगत् की रचना से होती है अर्थात् जगत् के उपादान कारण प्रकृति में कर्तृत्व औपचारिक है उस प्रकृतिनिष्ठ कर्तृत्व का जीव के भोग मोक्ष को सम्पादन करना ही प्रयोजन है ।

सं०–ननु, यदि मोक्षरूप प्रयोजन के लिये प्रकृति में जगत् कर्तृत्व पायाजाता है तो एकवार सृष्टि उत्पन्न करने से उक्त प्रयोजन की सिद्धि होनेपर पुनः सृष्टि होने की आवश्यकता नहीं? उत्तरः–

विरक्तस्य तत्सिद्धेः । २ ।

पद०-विरक्तस्य । तत्सिद्धेः ।

पदा०-(विरक्तस्य) विरक्त पुरुष को (तत्सिद्धेः) मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये प्रकृति से अनेकवार सृष्टि रचना पाईजाती है ।

भाष्य-"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" यो० १।१६ इस सूत्र में कथन किये हुए विवेकज्ञान से सत्त्वादि गुणों में होने वाली इच्छा की निवृत्ति का नाम "**परवैराग्य**" है, परवैराग्य संयुक्त पुरुष को "**विरक्त**" कहते हैं, विरक्त पुरुष के मोक्षरूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये प्रकृति की सृष्टि रचना में अनेकवार प्रवृत्ति होती है क्योंकि एक सृष्टि में ऐसा वैराग्य नहीं हो सकता इसलिये प्रकृति की वार २ सृष्टि रचना में प्रवृत्ति होती है ।

तात्पर्य्य यह है कि जब अनेक जन्मार्जित शुभाकर्मों से चित्त शुद्धि-द्वारा इसलोक तथा परलोक के विषयों की इच्छा सर्वथा निवृत्त होजाती है तब पुरुष मुक्त होता है अतएव प्रकृति का सृष्टि रचना में एकवार प्रवृत्त होना ठीक नहीं ।

सं०-एकवार की सृष्टि में ही वेदादिशास्त्र के श्रवण द्वारा परवैराग्य की सिद्धि होसकती है फिर सृष्टि रचना का क्या प्रयोजन? उत्तरः-

नश्रवणमात्रात् तत्सिद्धिर्नादिवासनाया बलवत्त्वात् । ३ ।

पद०-न । श्रवणमात्रात् । तत्सिद्धिः । अनादिवासनायाः । बलवत्त्वात् ।

पदा०-(अनादिवासनायाः) अनादि वासनाओं के प्रतिबन्ध से मिथ्याज्ञान की (श्रवणमात्रात्) श्रवणमात्र से (तत्सिद्धिः) परवैराग्य की सिद्धि (न) नहीं होती ।

भाष्य—अनादि वासनाओं के प्रतिबन्ध से मिथ्याज्ञान की एक जन्म में वेदादिशास्त्र के श्रवणद्वारा परवैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सक्ती इसलिये वार २ सृष्टि रचने की आवश्यकता होती है।

तात्पर्य्य यह है कि अनेक जन्मकृत शुभ कर्मों के पुण्य से वेदादिशास्त्रों के श्रवण की प्राप्ति होती है अतएव एकवार की सृष्टि में परवैराग्य की सिद्धि न होने से प्रकृति की सृष्टि रचना का प्रयोजन फिर भी बना रहता है।

सं०—अब सृष्टि के प्रवाह में और युक्ति कहते हैं :—

वहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ।४।

पद०—वहुभृत्यवत् । वा । प्रत्येकम् ।

पदा०—(वा) अथवा (वहुभृत्यवत्) वहुत सम्बन्धियों की भांति (प्रत्येकम्) प्रत्येक के पालन के समान पुनः सृष्टि होती है।

भाष्य—जिसप्रकार एक गृहस्थ अनेक पुत्र कलत्रादि सम्बन्धियों का पालनरूप प्रयोजन सिद्ध करता है इसी प्रकार प्रकृति भी अनेक पुरुषों के मोक्षरूप प्रयोजन को सिद्ध करती है इसलिये एकवार की सृष्टि से प्रकृति के इस प्रयोजन की सिद्धि नहीं होसक्ती।

तात्पर्य्य यह है कि एकवार की सृष्टि में कईएक पुरुषों के मुक्त होने पर भी अन्य पुरुषों की मोक्ष के लिये प्रकृति की पुनः२ सृष्टि रचना में प्रवृत्ति होने से सृष्टिप्रवाह निरन्तर बना रहता है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जैसे एक गृहस्थ अनेक पुत्रादि सम्बन्धियों का पुनः २ पालन करता है इसी प्रकार ब्रह्मानन्द को भोगकर मुक्ति से लौटकर आए हुए जीवों को पुनः२ मुक्त करने के लिये प्रकृति की सृष्टि रचना में निरन्तर प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं।

सं०–ननु, "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" तै० १२। २=उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, इस उपनिषद् वाक्य में स्पष्ट रीति से ईश्वर की उपादानकारणता पाई जाती है फिर प्रकृति को ही उपादान कारण मानना ठीक नहीं ? उत्तर :–

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः। ८।

पद०–प्रकृतिवास्तवे। च। पुरुषस्य। अध्याससिद्धिः।

पदा०–(प्रकृतिवास्तवे) वस्तुतः प्रकृति के उपादानकारण होनेपर (च) भी (पुरुषस्य) ईश्वर की (अध्याससिद्धिः) अधिष्ठानरूप से उपादान कारणता की सिद्धि है।

भाष्य–प्रकृति के सम्बन्ध से ईश्वर में उपादान कारणता प्रतीत होती है वास्तव में प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है अर्थात् प्रकृति के सम्बन्ध से जो ईश्वर में उपादान कारणता प्रतीत होती है वह अधिष्ठानरूप से है जैसाकि युद्ध में योद्धा अपनी शक्ति से जय, पराजय करते हैं पर वह सब राजा का समझा जाता है इसी प्रकार प्रकृति ही से सृष्टि की उत्पत्ति होती है पर उसका कर्त्ता ईश्वर माना जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकृति उपादान कारण और ईश्वर निमित्त कारण होने से ईश्वर का शरीरभूत प्रकृति उपादान कारण है इसी आशय से उक्त उपनिषद् वाक्य में ईश्वर से आकाशादि की उत्पत्ति कथन की है वास्तव नहीं। इसका विशेष विस्तार वेदान्तार्य्यभाष्यभूमिका में भले प्रकार स्पष्ट किया है विशेष जानने वाले वहां देखलें।

सं०-प्रकृति के उपादान कारण होने में और हेतु कहते हैं :-

कार्य्यतस्तत्सिद्धेः । ६ ।

पद०-कार्य्यतः । तत्सिद्धेः ।

पदा०-(कार्य्यतः) महदादि कार्य्यों के देखने से (तत्सिद्धेः) प्रकृति के उपादानकारणत्व की सिद्धि होती है ।

भाष्य-महदादि कार्य्यों के देखने से उनके उपादान कारण प्रकृति की सिद्धि होती है क्योंकि प्रकृति ही इनका उपादान कारण है यदि ईश्वर को उपादान कारण माना जाय तो ईश्वर में परिणामित्व दोष आता है । इसभाव को प्रथमाध्याय के १२५ सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कर आए हैं ।

सं०-ननु, प्रकृति अपने अधिकार को पूरा करती हुई वद्ध की भांति मुक्त पुरुष के लिये भी सृष्टि को सम्पादन करती रहेगी ? उत्तर :-

चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् । ७ ।

पद०-चेतनोद्देशात् । नियमः । कण्टकमोक्षवत् ।

पदा०-(कण्टकमोक्षवत्) कण्टक से छूटने की भांति (चेतनोद्देशात्) ईश्वर की प्रेरणा से (नियमः) वद्ध मुक्त के प्रति प्रकृति-सृष्टि का नियम पाया जाता है ।

भाष्य-जिस प्रकार राजा की इच्छा से एकही कण्टक=सूली दण्डनीय पुरुष के लिये दण्ड का हेतु होती है और अदण्डनीय के प्रति उदासीन रहती है इसी प्रकार चेतन=नियन्ता ईश्वरकी इच्छा से वद्ध मुक्त पुरुष के प्रति प्रकृतिसृष्टि का नियम पाया जाता है अर्थात् ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति वद्ध के लिये सृष्टि उत्पन्न करती है और मुक्त के लिये उदासीन रहती है,भाव यह है कि मुक्त पुरुष

के बन्धन का हेतु नहीं होती ।

सं०—ननु, जिसकी इच्छा से प्रकृति की प्रवृत्ति निवृत्ति होती है उसीको उपादान कारण क्यों न मानाजाय ? उत्तर :-

अन्ययोगेऽपितत्सिद्धिर्नाञ्जस्ये-नायोदाहवत् । ८ ।

पद०—अन्ययोगे । अपि । तत्सिद्धिः । न । आञ्जस्येन । अयोदाहवत् ।

पदा०—(अयोदाहवत्) अग्नि के सम्बन्ध से लोह की भांति (अन्ययोगे) प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने से (अपि) ही (तत्सिद्धिः) ईश्वरनिष्ठकर्त्तृत्व की सिद्धि होती है (साक्षात्) केवल (न) नहीं ।

भाष्य—जिस प्रकार अयोदहति = लोह जलाता है, यहांपर अग्नि के सम्बन्ध से लोह में दाहकत्व व्यवहार की सिद्धि होतीहै इसीप्रकार प्रकृति के सम्बन्ध से ईश्वर में कर्त्तृत्व पाया जाता है उपादान कारणत्व नहीं ।

भाव यह है कि यदि प्रकृति को उपादानकारण न मानाजाय तो ईश्वर के ईश्वरत्व की असिद्धि होगी और जीवों पर ईश्वर का प्रभुत्व मानने से उनके भोग मोक्ष को सम्पादन करने वाली प्रकृति का अवश्य स्वीकार होगा क्योंकि प्रकृति से विना जीवों के भोगादि की सिद्धि नहीं होसक्ती इसलिये प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है ईश्वर नहीं ।

सं०—अब सृष्टि का स्वरूप कथन करते हैं :—

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः । ९ ।

पद०—रागविरागयोः । योगः । सृष्टिः ।

पदा०-(रागविरागयोः) प्रकृति तथा ईश्वर के (योगः) सम्बन्ध को (सृष्टिः) सृष्टि कहते हैं।

भाष्य-भोगादि का सम्पादक होने से प्रकृति का नाम "**राग**" और प्रकृति कृत भोगादि की वासना से रहित होने के कारण ईश्वर को "**विराग**" कहते हैं, इन दोनों का स्वस्वामिभाव तथा प्रेर्य्य प्रेरकभाव सम्बन्ध सृष्टि का हेतु होने से "**सृष्टि**" कहलाता है, जिस प्रकार ईश्वर और प्रकृति का सम्बन्ध अनादि है इसी प्रकार सृष्टि का प्रवाह भी अनादि है।

सं०-अब सृष्टि उत्पत्ति का क्रम कथन करते हैं :-

महदादिक्रमेणपञ्चभूतानाम्। १०।

पद०-महदादिक्रमेण। पञ्चभूतानाम्।

पदा०-(महदादिक्रमेण) महदादि क्रम से (पञ्चभूतानाम्) पञ्चभूतों की सृष्टि होती है।

भाष्य-प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र और पञ्चतन्मात्र से पञ्चभूतों की उत्पत्ति होती है।

सं०-ननु, प्रकृति की सृष्टि और महदादिकों की सृष्टि में क्या भेद है? उत्तर :-

आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः। ११।

पद०-आत्मार्थत्वात्। सृष्टेः। न। एषाम्। आत्मार्थः। आरम्भः।

पदा०-(एषाम्) महदादिकों की (आरम्भः) सृष्टि (आत्मार्थः) अपने लिये (न) नहीं और (सृष्टेः) प्रकृति की सृष्टि (आत्मार्थत्वात्) अपने लिये होने से दोनों सृष्टियों का भेद है।

भाष्य–प्रकृतिकृत सृष्टि के स्वार्थ और परार्थ दो प्रयोजन हैं और महदादिकों की सृष्टि का केवल परार्थ = जीवों के भोगादिकों को सम्पादन करना ही प्रयोजन है, यही दोनों की सृष्टि में भेद है।

सं०–ननु, दिशा और काल की उत्पत्ति किससे होती है? उत्तरः–

दिक्कालावाशादिभ्यः । १२ ।

पद०–दिक्कालौ । आकाशादिभ्यः ।

पदा०–(आकाशादिभ्यः) आकाशादि से (दिक्कालौ) दिशा और काल की उत्पत्ति होती है ।

भाष्य–आकाश से यहां अवकाश का ग्रहण है अर्थात् कार्य्य-सृष्टि के समय से काल का व्यवहार होता है जैसाकि यह पदार्थ होचुका, यह हो रहा है, यह होगा, इस प्रकार काल का व्यवहार होता है और "आदि" पदसे यहां पृथिव्यादि भूतों का ग्रहण है उन से दिशा की प्रतीति होती है जैसाकि यह इससे पूर्व है, यह इससे पश्चिम है, यहप्रतीति भी भूतों की उत्पत्ति से अनन्तर होती है जैसाकि हिमालय विन्ध्याचल से उत्तर है, द्वारिका पश्चिम है, रामेश्वर दक्षण और गंगासागर पूर्व है, इस प्रकार इन दिशाओं की उत्पत्ति भूतों से मानी गई है । यहां यह वर्णन अनित्य दिशा और अनित्य काल का है और जो नित्यकाल तथा नित्य दिशा हैं वह प्रकृति के गुणों से भिन्न नहीं ।

सं०–अब यथाक्रम महदादि का लक्षण और कार्य्य कथन करते हैं:–

अध्यवसायोबुद्धिः । १३ ।

पद०–अध्यवसायः । बुद्धिः ।

पदा०–(अध्यवसायः) निश्चयात्मक व्यापार का नाम (बुद्धिः) महत्तत्त्व है ।

भाष्य–क्रिया, वृत्ति, व्यापार, यह एकार्थवाची शब्द हैं, "मेरा यह कर्त्तव्य इस प्रकार पूर्ण होगा" इस प्रकार के निश्चय के अनन्तर पुरुषमात्र की कार्य्य में प्रवृत्ति देखीजाती है, इसलिये उक्त निश्चयात्मक व्यापार का नाम बुद्धि = महत्तत्त्व है और वह सात्त्विक, राजस, तामस, भेद से तीन प्रकार की है।

सं०–अब महत्तत्त्व का कार्य्य कथन करते हैं:–

तत्कार्य्यं धर्मादि । १४ ।

पद०–तत्कार्य्यं । धर्मादि ।

पदा०–(धर्मादि) धर्म आदि (तत्कार्य्यं) महत्तत्त्व का कार्य्य हैं।

भाष्य–धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य आदि सात्त्विक बुद्धि के कार्य्य हैं।

महदुपरागाद्विपरीतम् । १५ ।

पद०–महत् । उपरागात् । विपरीतम् ।

पदा०–(महत्) महत्तत्त्व (उपरागात्) रजोगुण, तमोगुण के सम्बन्ध से (विपरीतम्) अधर्मादि कार्य्यवाला होता है।

भाष्य–जब बुद्धि के साथ रजोगुण वा तमोगुण का सम्बन्ध होता है तब उससे अधर्म, अज्ञान, वैराग्य का न होना, अनीश्वरतादि कार्य्य होते हैं अर्थात् अधर्मादि राजस वा तामस बुद्धि से उत्पन्न होते हैं।

सं०–अब अहङ्कार का लक्षण कहते हैं:–

अभिमानोऽहङ्कारः । १६ ।

पद०–अभिमानः । अहङ्कारः ।

पदा०-(अभिमानः) अहं-अहं इस प्रकार की वृत्ति को (अहङ्कारः) अहङ्कार कहते हैं ।

भाष्य-अभिमानात्मक वृत्ति का नाम "अहङ्कार" है, यहभी सात्त्विक, राजस, तामस भेद से तीन प्रकार का है ।

सं०-अब अहङ्कार का कार्य्य कथन करते हैं :-

एकादशपञ्चतन्मात्रंतत्कार्य्यम् । १७।

पद०-एकादश । पञ्चतन्मात्रम् । तत्कार्य्यम् ।

पदा०-(एकादश) एकादश इन्द्रिय और (पञ्चतन्मात्रम्) पञ्चतन्मात्र, यह सोलह (तत्कार्य्यम्) अहङ्कार के कार्य्य हैं ।

भाष्य-**अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद्द्विविधःप्रवर्त्ततेसर्गः-**
एकादशकश्चगणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव । सां० कारि० २४

अर्थ-मैंने जो सोचा है वा निश्चय करलिया है उसमें मेरा ही अधिकारहै अर्थात मुझ से अच्छा कोई नहीं जान सक्ता, अहमास्मि = मैं हूं, इस प्रकार की वृत्ति का नाम अहङ्कार है और वह चक्षुरादि एकादश इन्द्रिय तथा शब्दस्पर्शादि पञ्चतन्मात्र भेद से दो प्रकार का है और चक्षुरादि सोलह पदार्थ अहङ्कार का कार्य्य हैं

सं०-ननु, किस अहङ्कार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है?उत्तरः

सात्त्विकमेकादशकंप्रवर्त्ततेवैकृताद- हङ्कारात् । १८ ।

पद०-सात्त्विकम् । एकादशकं । प्रवर्त्तते । वैकृतात् । अहङ्कारात् ।

पदा०-(वैकृतात्) सात्त्विक (अहङ्कारात्) अहङ्कार से(एकादशकं) एकादश इन्द्रिय (प्रवर्त्तते) उत्पन्न होते हैं इसलिये (सात्त्विकं) सात्त्विक कहलाते हैं ।

भाष्य–एकादश इन्द्रिय सात्त्विक अहङ्कार के कार्य्य हैं और शब्दादि पञ्चतन्मात्र तामस अहङ्कार के कार्य्य हैं और चालक होने से रजोगुण का दोनों की उत्पत्ति में सम्बन्ध है।

सं०–अब एकादश इन्द्रिय कथन करते हैं :—

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्। १९।

पद०–कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैः। आन्तरम्। एकादशकम्।

पदा०–(कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैः) कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय तथा (आन्तरम्) मन (एकादशकम्) यह एकादश इन्द्रिय हैं।

भाष्य–जीवात्मा का नाम "इन्द्र" और उसके ज्ञान तथा कर्म के साधन को "इन्द्रिय" कहते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर भेद से इन्द्रिय दो प्रकार के हैं तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन है और बाह्य इन्द्रिय भी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय भेद में दो प्रकार के हैं।

वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, यह पांच कर्मेन्द्रिय तथा चक्षु, श्रोत्र, त्वक, रसना, और घ्राण यह पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं और ग्यारहवां मन।

सं०–ननु, इन्द्रियों से आकाशादि पञ्चभूतों के शब्दादि गुणों का प्रत्यक्ष होता है इसलिये इनको भूतों का कार्य्य मानना चाहिये ? उत्तर :—

अहङ्कारिकत्वश्रुतेर्नभौतिकानि। २०।

पद०–अहङ्कारिकत्वश्रुतेः। न। भौतिकानि।

पदा०–(अहङ्कारिकत्वश्रुतेः) अहङ्कार का कार्य्य पाए जाने से

(भौतिकानि) इन्द्रिय भौतिक (न) नहीं ।

भाष्य-"एतस्माज्जायतेप्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" मुण्ड० २ । १ । ३ इस उपनिषद् वाक्य में भूतों की उत्पत्ति से पूर्व इन्द्रियों की उत्पत्ति कथन की है इसलिये इन्द्रिय भौतिक = भूतों के कार्य्य नहीं होसक्ते किन्तु अहङ्कार के कार्य्य हैं ।

सं०-ननु, "अग्निवागप्येति,वातंप्राणश्चक्षुरादित्यम्" बृहदा० ५ । २ । ४ इस वाक्य से वागादि इन्द्रियों का अग्नि आदि में लय होना कथन किया है इससे पाया जाता है कि इन्द्रिय भौतिक हैं ? उत्तर :-

देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य । २१ ।

पद०-देवतालयश्रुतिः । न । आरम्भकस्य ।

पदा०-(देवतालयश्रुतिः) दिव्यगुणोंवाले अग्नि आदिकों में लय का कथन (आरम्भकस्य) कारण में लय होने के अभिप्राय से (न) नहीं ।

भाष्य-यद्यपि उपादान कारण में कार्य्य के लय होने का नियम पाया जाता है तथापि भूतलादिकों में जलविन्दु के लय होने से यह नियम नहीं होता कि लय उपादान कारण में ही होता है किन्तु अन्य पदार्थ में भी अन्य पदार्थ का प्रवेश लय कहलाता है ।

सं०-ननु, ऐसा नियम है तो इन्द्रियें नित्य होने चाहियें ? उत्तरः-

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च । २२ ।

पद०-तदुत्पत्तिश्रुतेः । विनाशदर्शनात् । च ।

पदा०-(तदुत्पत्तिश्रुतेः) इन्द्रियों की उत्पत्ति पाई जाती है (च) और (विनाशदर्शनात्) नाश भी होता है, इसलिये नित्य नहीं होसक्ते ।

भाष्य–उक्त प्रकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति पाई जाती है और जो पदार्थ उत्पत्ति वाला है वह अनित्य होता है इसलिये इन्द्रियें नित्य नहीं।

ननु–प्रथमाध्याय के ६१वें सूत्र में इन्द्रियों तथा भूतों की उत्पत्ति कथन कीगई है फिर यहां उत्पत्ति की पुनरुक्ति क्यों? उत्तर–वहां प्रकृति के स्वरूप को वर्णन करते हुए सामान्य रीति से प्रकृति मूलक उत्पत्ति कथन की है और यहां महदादि क्रम से बिस्तार पूर्वक सब पदार्थों की उत्पत्ति का वर्णन है इसलिये पुनरुक्ति नहीं।

सं०–इन्द्रियें प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं, अब इस बात को कथन करते हैं:–

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानाम-धिष्ठानम्। २३।

पद०–अतीन्द्रियम्। इन्द्रियं। भ्रान्तानाम्। अधिष्ठानम्।

पदा०–(इन्द्रियं) चक्षुरादि इन्द्रिय (अतीन्द्रियम्) प्रत्यक्ष नहीं होते (भ्रान्तानाम्, अधिष्ठानम्) इन्द्रियों को गोलकरूप मानना भ्रान्ति है।

भाष्य–शब्दादि प्रत्यक्ष के असाधारणकारण इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु प्रत्यक्षरूपकार्य्य से अनुमान किया जाता है। भाव यह है कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में महत्व तथा उद्भूतरूप कारण होते हैं पर वह दोनों इन्द्रियों में नहीं होते इसलिये उनका प्रत्यक्ष नहीं होसक्ता और जिन लोगों ने इन्द्रियों को गोलकरूप मानकर

प्रत्यक्ष माना है वह उनकी भ्रान्ति है।

सं०-ननु, एक इन्द्रिय को उपाधि भेद से नाना मानकर सर्व व्यवहार की सिद्धि होसक्ती है फिर अधिक मानना व्यर्थ है ? उत्तर :-

शक्तिभेदेऽपिभेदसिद्धौ नैकत्वम्। २४।

पद०-शक्तिभेदे। अपि। भेदसिद्धौ। न। एकत्वम्।

पदा०-(शक्तिभेदे) शक्तियों के भेद मानने से (अपि) भी (भेदसिद्धौ) इन्द्रियों के भेद की सिद्धि है इसलिये (एकत्वम्) इन्द्रिय एक (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य-शब्दादि भिन्न २ विषयों का भिन्न२ इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है इसलिये भिन्न २ प्रत्यक्ष की शक्ति का आश्रय इन्द्रिय भी भिन्न २ हैं एक नहीं।

सं०-ननु, एवं एक अहङ्कार से अनेक इन्द्रियों की कल्पना का विरोध होगा ? उत्तर :-

न कल्पनाविरोधः प्रमाण दृष्टस्य। २५।

पद०-न। कल्पनाविरोधः। प्रमाणदृष्टस्य।

पदा०-(प्रमाणदृष्टस्य) प्रमाण सिद्ध भेद का (कल्पनाविरोधः) कल्पना से विरोध (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य-जहां वस्तुओं का भेद प्रमाण सिद्ध हो वहां उनकी एक कल्पना में प्रत्यक्ष बाध है,जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड से अनेक घटादि कार्य्य सम विषम उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार एक अहङ्कार से अनेक इन्द्रियों की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं।

सं०-अब मनकी विशेषता कथन करते हैं :-

उभयात्मकं मनः । २६ ।

पद०—उभयात्मकम् । मनः ।

पदा०—(मनः) मन (उभयात्मकम्) ज्ञान तथा इन्द्रिय रूप है ।

भाष्य—मन ज्ञानशक्ति होने से ज्ञानेन्द्रिय तथा क्रियाशक्ति होने से कर्मेन्द्रिय है ।

सं०—ननु, एक अहङ्कार से पञ्चतन्मात्र तथा इन्द्रियरूप कार्य्य की उत्पत्ति में क्या हेतु ? उत्तर :—

गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् । २७।

पद०—गुणपरिणामभेदात् । नानात्वम् । अवस्थावत् ।

पदा०—(अवस्थावत्) अवस्था की भांति (गुणपरिणामभेदात्) गुणों के परिणाम भेद से (नानात्वम्) एक अहङ्कार के नाना कार्य्य होते हैं ।

भाष्य—जिसप्रकार सत्त्वादि गुणों के परिणाम से एक देह की अनेक अवस्था होती हैं इसी प्रकार गुणों के भेद से एक अहङ्कार द्वारा अनेक कार्य्यों की उत्पत्ति में कोई वाधा नहीं ।

सं०—अब ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के असाधारण व्यापार को कथन करते हुए प्रथम उनके विषय का कथन करते हैं :—

रूपादिरसमलान्तउभयोः । २८ ।

पद०—रूपादिरसमलान्तः । उभयोः ।

पदा०—(उभयोः) दोनों प्रकार की इन्द्रियों का (रूपादिरसमलान्तः) रूप से लेकर मलत्याग पर्य्यन्त विषय है ।

भाष्य—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द यह क्रम से चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और बचन, विहरण, आदान, आनन्द, मलत्याग,

यह वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। भाव यह है कि रूपादिकों का ग्रहण करना चक्षुरादि इन्द्रियों का असाधारण व्यापार है और वचनादिकों का होना कर्मेन्द्रियों का व्यापार है।

सं०-ननु, प्रकाशक होने से इन्द्रियों को ही द्रष्टा क्यों न माना जाय? उत्तर :-

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमि-न्द्रियाणाम्। २९।

पद०-द्रष्टृत्वात्। आत्मनः। करणत्वम्। इन्द्रियाणाम्।

पदा०-(आत्मनः) आत्मा के (द्रष्टृत्वात्) द्रष्टृत्वादि धर्म हैं और (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का (करणत्वम्) साधन होना धर्म है।

भाष्य-यद्यपि इन्द्रिय प्रकाशक सात्त्विक हैं, तथापि जड़ होने के कारण द्रष्टा नहीं हो सक्ते किन्तु करण अर्थात् जीवात्मा के विशेषज्ञान के साधन हैं।

तात्पर्य्य यह है कि बुद्धि के उपराग = सम्बन्ध से द्रष्टृत्व श्रोतृत्वादि धर्म आत्मा में होते हैं चक्षुरादि इन्द्रियों में नहीं अर्थात् जैसे सेनाकृत जय पराजय का व्यवहार राजा में होता है इसी प्रकार अयस्कान्तमणि की भांति समीपतामात्र से प्रेरक होने के कारण द्रष्टृत्वादि का व्यवहार आत्मा में पाया जाता है इन्द्रियों में नहीं, इन्द्रिय केवल दर्शनादि व्यापार के साधन हैं।

सं०-अब महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा मन का असाधारण व्यापार कथन करते हैं:—

त्रयाणांस्वालक्षण्यम्। ३०।

पद०-त्रयाणाम्। स्वालक्षण्यम्।

पदा०-(त्रयाणाम्) उक्त तीनों का (स्वालक्षण्यम्) भिन्न २ व्यापार है।

भाष्य-अध्यवसाय = निश्चय करना महत्तत्त्व = बुद्धिका, अभिमान करना अहङ्कार का और सङ्कल्प विकल्प मनका, असाधारण व्यापार है।

सं०-अब वाह्य तथा आभ्यन्तर इन्द्रियों का साधारण व्यापार कथन करते हैं :-

सामान्यकरणवृत्तिःप्राणाद्या वायवःपञ्च। ३१।

पद०-सामान्यकरणवृत्तिः। प्राणाद्याः। वायवः। पञ्च।

पदा०-(प्राणाद्याः) प्राणादि (पञ्च) पांच (वायवः) वायु (सामान्यकरणवृत्तिः) समस्त इन्द्रियों का व्यापार हैं।

भाष्य-प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, भेद से पांच प्रकार के प्राण चक्षुरादि एकादश इन्द्रियों का साधारण व्यापार हैं।

सं०-अब इन्द्रियों के असाधारण व्यापार में क्रम तथा अक्रम कथन करते हैं :-

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः। ३२।

पद०-क्रमशः। अक्रमशः। च। इन्द्रियवृत्तिः।

पदा०-(इन्द्रियवृत्तिः) इन्द्रियों का व्यापार (क्रमशः) क्रम (च) तथा (अक्रमशः) अक्रम से होता है।

भाष्य-चक्षुरादि इन्द्रियों के व्यापार में यह नियम है कि क्रम से ही हो परन्तु क्रम, अक्रम दोनों प्रकार से होता है इसी आशय को वाचस्पति मिश्र ने सांख्यकारिका में इस प्रकार स्फुट किया है कि :-

युगपच्चतुष्टयस्यतुवृत्तिःक्रमशश्चतस्यनिर्दिष्टा-
दृष्टेतथाप्यदृष्टेत्रयस्यतत्पूर्विकावृत्तिः" सां० का० ३०

वस्तु के ज्ञान में इन्द्रियों का व्यापार क्रम तथा क्रम के विना भी होता है अर्थात् जब पुरुष गाढ़ अन्धकार में बिजली के प्रकाश से अकस्मात् समीप स्थित व्याघ्र को देखता है तब उसको आलोचन, संकल्प, अभिमान और निश्चय, यह चक्षुरादि इन्द्रियों के चारो व्यापार एक काल में क्रम के विना होते हैं क्योंकि वह सहसा उस स्थान से हट जाता है और जब विना भय से किञ्चित प्रकाश में किसी वस्तु को देखता है तब उसको आलोचनादि क्रम से होते हैं। इस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियों के व्यापार में क्रम और अक्रम दोनों पाए जाते हैं।

सं०-अब प्रसङ्ग सङ्गति से बुद्धि वृत्तियों के भेद कथन करते हैं:-

वृत्तयःपञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः । ३३ ।

पद०-वृत्तयः। पञ्चतय्यः। क्लिष्टाक्लिष्टाः।

पदा०-(वृत्तयः) बुद्धि की वृत्तियें (पञ्चतय्यः) पांच प्रकार की हैं और फिर वह (क्लिष्टाक्लिष्टाः) क्लिष्ट अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं।

भाष्य-प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, इस भेद से बुद्धि की वृत्तियें पांच प्रकार की हैं, इनमें से राजस वृत्तियों को क्लिष्ट और सात्त्विक वृत्तियों को अक्लिष्ट कहते हैं। इनका वर्णन विस्तारपूर्वक योगार्य्यभाष्य के समाधि पाद में किया है विशेष जानने वाले वहां देखलें।

सं०-अब सर्ववृत्तियों के निरोधकाल में जो पुरुष की अवस्था होती है उसका कथन करते हैं:-

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागःस्वस्थः । ३४ ।

पद०—तन्निवृत्तौ । उपशान्तोपरागः । स्वस्थः ।

पदा०—(तन्निवृत्तौ) प्रमाणादि वृत्तियों के निवृत्त होने से (उपशान्तोपरागः) वृत्ति सम्बन्ध से रहित हुआ पुरुष (स्वस्थः) स्वस्थ होता है ।

सं०—अब इसमें उदाहरण कहते हैं :—

कुसुमवच्चमणिः । ३५ ।

पद०—कुसुमवत् । च । मणिः ।

पदा०—(च) और जैसे (कुसुमवत्) जपापुष्प की निवृत्ति से (मणिः) स्फटिक मणि अपने स्वरूप में स्थित होती है ।

भाष्य—जैसे जपापुष्प के सम्बन्ध से स्फटिकमणि में रक्तता प्रतीत होती है और उसकी निवृत्ति से निवृत्त होजाती है इसी प्रकार बुद्धि के सम्बन्ध से प्रमाणादि वृत्तियों द्वारा पुरुष में प्रतीत होने वाले रागादिदोष वृत्तिनिरोध से निवृत्त होजाते हैं तब पुरुष शुद्ध होजाता है ।

सं०—ननु, पुरुष तो कूटस्थ नित्य है फिर इन्द्रियों की प्रवृत्ति कैसे होती है ? उत्तर :—

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् । ३६ ।

पद०—पुरुषार्थं । करणोद्भवः । अपि । अदृष्टोल्लासात् ।

पदा०—(अदृष्टोल्लासात्) अदृष्ट के निमित्त से (करणोद्भवः) इन्द्रियों की प्रवृत्ति (अपि) भी (पुरुषार्थं) पुरुष के अर्थ के लिये होती है ।

भाष्य—प्रकृति की भांति इन्द्रियों की प्रवृत्ति का प्रयोजन भी पुरुष के अर्थ के लिये ही है ।

सं०—ननु, जड़ इन्द्रियें स्वतः ही पुरुष के प्रयोजन के लिये कैसे प्रवृत्त होजाते हैं ? उत्तर :—

धेनुवद्वत्साय । ३७ ।

पद०—धेनुवत् । वत्साय ।

पदा०—(वत्साय) बछड़े के लिये (धेनुवत्) गौ की भांति इन्द्रियें प्रवृत्त होते हैं ।

भाष्य—जैसे वत्स के पालनार्थ स्वयं गौ दूध को स्रवित करती है इसी प्रकार पुरुष के अर्थ को सिद्ध करने के लिये इन्द्रियें प्रवृत्त होते हैं ।

सं०—अब इन्द्रियों के भेद कथन करते हैं :—

करणंत्रयोदशविधमवान्तरभेदात् । ३८ ।

पद०—करणं । त्रयोदशविधम् । अवान्तरभेदात् ।

पदा०—(अवान्तरभेदात्) बाह्य तथा अवान्तर भेद से (करणम्) इन्द्रिय (त्रयोदशविधम्) तेरह प्रकार के हैं ।

भाष्य—पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, अहंकार, इस भेद से इन्द्रिय तेरह प्रकार के हैं ।

सं०—ननु, इन्द्रियों में करणत्व व्यवहार क्यों होता है ? उत्तर :—

इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगा-त्कुठारवत् । ३९ ।

पद०—इन्द्रियेषु । साधकतमत्वगुणयोगात् । कुठारवत् ।

पदा०—(कुठारवत्) कुठार की भांति (साधकतमत्वगुणयोगात्) ज्ञान के अतिशयसाधन होने से (इन्द्रियेषु) इन्द्रियों में करणत्व व्यवहार होता है ।

भाष्य–जैसे छिदि क्रिया का अत्यन्त साधक होने से कुठार को करण कहते हैं इसी प्रकार ज्ञान का साधक होने से इन्द्रियों को करण कहते हैं।

करण का लक्षण यह है कि व्यापार वाला हो और असाधारण कारण हो।

दर्शनादि व्यापार इन्द्रियों में पाए जाने से इन्द्रिय करण हैं।

सं०–अब बुद्धि की प्रधानता कथन करते हैं:–

द्वयोःप्रधानं मनो लोकवद्भृत्येषु।४०।

पद०–द्वयोः। प्रधानं। मनः। लोकवत्। भृत्येषु।

पदा०–(भृत्येषु,लोकवत्) भृत्यों में लोक प्रसिद्ध स्वामी की भांति (द्वयोः) बाह्य तथा आभ्यन्तर इन्द्रियों में (मनः) बुद्धि (प्रधानं) मुख्य है।

भाष्य–मननशक्ति वाला होने से बुद्धि का नाम "**मन**" है। जिसप्रकार मंत्री आदि भृतों में स्वामी होने से राजा मुख्य है इसी प्रकार सब इन्द्रियों में बुद्धि मुख्य है क्योंकि और सब इन्द्रिय इसी के अधीन हैं।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि बाह्यइन्द्रियों की अपेक्षा मन तथा मनकी अपेक्षा अहंकार और अहंकार की अपेक्षा से बुद्धि मुख्य है।

सं०–बुद्धि के मुख्य होने में और हेतु कहते हैं:–

अव्यभिचारात्।४१।

पद०–एकपद।

पदा०–(अव्यभिचारात्) सर्वइन्द्रियों में व्यापक होने से बुद्धि मुख्य है।

सं०–और हेतु कहते हैं :–

तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् । ४२ ।

पद०–तथा । अशेषसंस्काराधारत्वात् ।

पदा०–(तथा) और (अशेषसंस्काराधारत्वात्) सर्व संस्कारों का आश्रय होने से मुख्य है ।

भाष्य–ज्ञान के सम्पूर्ण संस्कारों का आश्रय बुद्धि ही होती है अन्य इन्द्रिय नहीं, इसलिये बुद्धि ही मुख्यहै । यदि चक्षुरादि इन्द्रियों को मुख्य मानाजाय तो उन्हीं के द्वारा अन्धादि पुरुषों को स्मरण होना चाहिये पर ऐसा नहीं होता इसलिये वह मुख्य नहीं बुद्धि ही मुख्य है ।

सं०–और हेतु कहते हैं :–

स्मृत्याऽनुमानाच्च । ४३ ।

पद०–स्मृत्या । अनुमानात् । च ।

पदा०–(च) और (स्मृत्या) स्मृति से (अनुमानात्) बुद्धि की मुख्यता का अनुमान होने से वह मुख्य है ।

भाष्य–पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थों का विषय करने वाली स्मृतिरूपवृत्ति से बुद्धि की मुख्यता का अनुमान होता है ।

ननु–संस्कारों के न होने से उनका आधार बुद्धि नहीं होसक्ती ? उत्तर–स्मृत्या = पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थों के स्मृतिरूप कार्य्य से उसके उत्पादक संस्कारों का अनुमानात् = अनुमान होता है, इस लिये संस्कारों का आश्रय बुद्धि मुख्य है ।

सं०–ननु, यदि बुद्धि को ही करण मानाजाय तो क्या हानि ?

उत्तर :–

संभवेन्नस्वतः। ४४।

पद०—संभवेत्। न। स्वतः।

पदा०—(स्वतः) बुद्धि में स्वयं करणत्व (सम्भवेत्) सम्भव (न) नहीं।

भाष्य—चक्षुरादि करणों से बिना बुद्धि में स्वतः करणत्व सिद्ध नहीं होता इसलिये अन्य करणों के मानने की अवश्यकता है।

सं०—ननु, इन्द्रियों के गौण मुख्य भाव का क्या कारण? उत्तरः—

अपेक्षिकोगुणप्रधानभावःक्रिया-विशेषात्। ४५।

पद०—अपेक्षिकः। गुणप्रधानभावः। क्रियाविशेषात्।

पदा०—(क्रियाविशेषात्) व्यापारविशेष के निमित्त से (गुण-प्रधानभावः) इन्द्रियों का गौण, मुख्यभाव (अपेक्षिकः) अपेक्षिक है।

भाष्य—चक्षुरादि इन्द्रियों में गौण तथा मुख्यभाव एक दूसरे की अपेक्षा से होता है जैसाकि चक्षुरादि दश इन्द्रियों की अपेक्षा से मन प्रधान है तथा मन की अपेक्षा से अहंकार और अहंकार की अपेक्षा से बुद्धि प्रधान है।

सं०—अब पुरुष के प्रयोजनार्थ इन्द्रियों की प्रवृत्ति की दृढ़ता के लिये उनकी प्रवृत्ति का निमित्त फिर कथन करते हैं :—

तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत्। ४६।

पद०—तत्कर्मार्जितत्वात् । तदर्थं । अभिचेष्टा । लोकवत् ।

पदा०—(लोकवत्) जैसे लोक में करण अपने स्वामी के लिये चेष्टा करता है इसी प्रकार (तत्कर्मार्जितत्वात्) जीवों के अदृष्ट द्वारा (तदर्थं) पुरुष के प्रयोजन के लिये (अभिचेष्टा) इन्द्रियों की चेष्टा होती है ।

भाष्य—जिस प्रकार देवदत्त के कर्म से प्रेरित हुए कुठारादि उसी के लिये छिदि आदि क्रिया को सम्पादन करते हैं इसी प्रकार जीवों के अदृष्ट निमित्त से भोगादि को सम्पादन करने के लिये इन्द्रियों की चेष्टा होती है । भाव यह है कि इन्द्रियों की चेष्टा का हेतु जीवों के अदृष्ट हैं ।

सं०—अब बुद्धि का प्राधान्य दृढ़ करते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं :—

समानकर्मयोगेबुद्धेःप्राधान्यंलोकव ल्लोकवत् । ४७ ।

पद०—समानकर्मयोगे । बुद्धेः । प्राधान्यं । लोकवत् । लोकवत् ।

पदा०—(लोकवत्) लोक की भांति (समानकर्मयोगे) कर्मों के समान होने पर भी (बुद्धेः) बुद्धि की (प्राधान्यम्) मुख्यता पाई जाती है ।

भाष्य—जिस प्रकार लोक में राजा के भृत्यों में राज्यपालनरूप कर्म के समान होने पर भी प्रधानता मंत्री की ही पाई जाती है इसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रिय विषयों को लेकर बुद्धि को दे देते हैं और

बुद्धि राजारूप पुरुष के अर्पण कर देती है इसलिये मंत्री के समान बुद्धि की प्रधानता पाई जाती है।

"लोकवत्" इसका दोबार पाठ अध्याय की समाप्ति के लिये आया है।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
सांख्यार्य्य भाष्ये
द्वितीयाध्यायः

ओ३म्

अथ तृतीयाध्यायः प्रारभ्यते

सं०—द्वितीयाध्याय में प्रकृति का ईश्वराधीन होना तथा महदादिक्रम से पञ्च भूतों की उत्पत्ति विस्तार पूर्वक कथन की, अब इस अध्याय में स्थूलशरीर और लिङ्गशरीर की रचना तथा मुक्ति और मुक्ति के साधनों का वर्णन करते हैं :—

अविशेषाद्विशेषारम्भः ।१।

पद०—अविशेषात् । विशेषारम्भः ।

पदा०—(अविशेषात्) सूक्ष्म भूतों से (विशेषारम्भः) स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है ।

भाष्य—सात्त्विकादि परिणाम के भेद की प्रतीति से रहित होने के कारण शब्दादि पञ्चतन्मात्र का नाम **"अविशेष"** है और इसी को **"सूक्ष्मभूत"** कहते हैं, और स्थूलभूतों में सात्त्विकादि परिणाम की भेद प्रतीति पाए जाने से इनका नाम **"विशेष"** है। भाव यह है कि सात्त्विकादि परिणाम के भेद से रहित सूक्ष्मभूतों से सात्त्विकादि परिणाम भेदवाले स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है।

सं०—अब स्थूल भूतों से स्थूल शरीर की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

तस्माच्छरीरस्य ।२।

पद०—तस्मात् । शरीरस्य ।

पदा०—(तस्मात्) स्थूल भूतों से (शरीरस्य) स्थूलशरीर की उत्पत्ति होती है ।

सं०—अब जीव के गमनागमन में हेतुभूत लिङ्गशरीर का कथन करते हैं :-

तद्बीजात्संसृतिः । ३ ।

पद०—तद्बीजात् । संसृतिः ।

पदा०—(तद्बीजात्) स्थूलशरीर के निमित्तभूत लिङ्गशरीर से (संसृतिः) जीव का गमनागमन होता है ।

भाष्य—शुभाशुभ कर्मों की वासना सहित बुद्धि, अहंकारादि सत्तरह तत्त्वों* के समुदाय का नाम "**लिङ्गशरीर**" है, इसी लिङ्गशरीर द्वारा जीव का गमनागमन होता है ।

सं०—अब महदादितत्त्वों से शरीरारम्भ की अवधि कथन करते हैं :-

आविवेकाच्चप्रवर्तनमविशेषाणाम् । ४ ।

पद०—आविवेकात् । च । प्रवर्त्तनम् । अविशेषाणाम् ।

पदा०—(आविवेकात्) विवेकज्ञानपर्य्यन्त (च) ही (अविशेषाणाम्) महदादि तत्त्वों की (प्रवर्त्तनम्) शरीरोत्पत्ति के लिये प्रवृत्ति होती है ।

भाष्य—सात्त्विकादि परिणाम के भेद की प्रतीति से रहित होने के कारण महदादि तत्त्वों का नाम "**अविशेष**" है, जब तक प्रकृति पुरुष का विवेकज्ञान नहीं होता तब तक ही महदादि शरीरारम्भ के हेतु होते हैं और जब विवेकज्ञान होजाता है तब सूक्ष्मभूतों की प्रवृत्ति नहीं रहती ।

तात्पर्य्य यह है कि विवेकज्ञान से जीव के जन्म मरण की निवृत्ति होजाती है ।

---

* पांचज्ञानेन्द्रिय, पांचकर्मेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र, बुद्धि और अहङ्कार ।

सं०—ननु, यह कैसे जानाजाय कि विवेकज्ञान होने पर फिर तत्त्वों से शरीराम्भ नहीं होता ? उत्तर :—

उपभोगादितरस्य ।५।

पद०—उपभोगात् । इतरस्य ।

पदा०—(इतरस्य) अविवेकी पुरुष के (उपभोगात्) भोग पाए जाने से ।

भाष्य—जिन पुरुषों को प्रकृति पुरुष का विवेक नहीं हुआ उनके भोग की समाप्ति नहीं होती और शरीर से बिना भोग नहीं होसक्ता, जब पुरुष को विवेकज्ञान होजाता है तब भोगों की निवृत्ति होने से शरीरारम्भ नहीं होता ।

सं०—ननु, गमनागमन समय में जीव को सुख दुःख का भोग होता है वा नहीं ? उत्तरः—

सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ।६।

पद०—सम्प्रति । परिमुक्तः । द्वाभ्याम् ।

पदा०—(सम्प्रति) गमनागमन समय में (द्वाभ्याम्) सुख दुःख से (परिमुक्तः) रहित होता है ।

भाष्य—पूर्वशरीर को त्याग कर अन्य शरीर में प्रवेश करने का नाम "संसृति = गमनागमन" है और उसके मध्यकाल को "संसृतिकाल" कहते हैं, इस काल में जीव के सुख दुःख का कोई साधन नहीं होता इसलिये उसको सुख दुःख का भोग नहीं होता ।

सं०—अब स्थूल तथा सूक्ष्म लिङ्गशरीर का भेद कथन करते हैं :—

मातापितृजंस्थूलं प्रायश इतरन्नतथा ।७।

पद०—मातापितृजं । स्थूलं । प्रायशः । इतरत् । न । तथा ।

पदा०—(स्थूलं) स्थूलशरीर (प्रायशः) प्रायः (मातापितृजं) योनिज होता है (तथा) और (इतरत्) सूक्ष्मशरीर (न) योनिज नहीं होता ।

भाष्य—स्थूल शरीर योनिज होता है और सूक्ष्मशरीर अयोनिज होता है, सूत्र में "प्रायशः" शब्द इस अभिप्राय से आया है कि सृष्टि की आदि में ऋषियों के स्थूल शरीर भी अयोनिज हुए हैं।

सं०—ननु, उक्त दोनों प्रकार के शरीरों में सुखादि भोग का आश्रय कौन है ? उत्तर :—

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्य्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य । ८ ।

पद०—पूर्वोत्पत्तेः । तत्कार्य्यत्वं । भोगात् । एकस्य । न । इतरस्य ।

पदा०—(एकस्य) लिङ्गशरीर द्वारा (भोगात्) सुखादि भोग की उपलब्धि होने से (पूर्वोत्पत्तेः) लिङ्गशरीर (तत्कार्य्यत्वं) भोग का आश्रय है (इतरस्य, न) स्थूल शरीर नहीं ।

भाष्य—सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने के अभिप्राय से लिङ्ग = सूक्ष्मशरीर को "पूर्वोत्पत्ति" कहागया है, भाव यह है कि मृतशरीरों में सुखादि भोगों की प्रतीति न होने के कारण भोग का आश्रय लिङ्गशरीर ही होता है ।

सं०—अब लिङ्गशरीर का स्वरूप कथन करते हैं:—

सप्तदशैकंलिङ्गम् । ९ ।

पद०—सप्तदश । एकं । लिङ्गम् ।

पदा०—(लिङ्गम्) लिङ्ग शरीर (सप्तदश) सत्तरह तत्त्वों का

होता है और वह (एकं) प्रत्येक जीव का भिन्न२ होता है ।

सं०—ननु, लिङ्गशरीर सब स्थूल शरीरों में समान पाया जाता है इसलिये मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों में भोग भी समान ही होना चाहिये ? उत्तर :—

व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् । १० ।

पद०—व्यक्तिभेदः । कर्मविशेषात् ।

पदा०—(कर्मविशेषात्) जीवों के अदृष्ट भिन्न होने से (व्यक्ति-भेदः) लिङ्गशरीरों का भेद पायाजाता है ।

भाष्य—अदृष्टों के भेद द्वारा लिङ्गशरीरों का भेद होने से सब योनियों में भोग की समानता नहीं हो सक्ती ।

सं०—ननु, भोग का आश्रय होनेसे लिङ्गशरीर में ही शरीर व्यवहार बन सक्ता है फिर स्थूल शरीर में शरीर व्यवहार क्यों ? उत्तरः—

तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात्तद्वादः । ११ ।

पद०—तदधिष्ठानाश्रये । देहे । तद्वादात् । तद्वादः ।

पदा०—(तदधिष्ठानाश्रये) बुद्धिसत्त्व के आश्रय लिङ्गशरीर में (तद्वादात्) शरीर का व्यवहार पाए जाने से (देहे) स्थूल शरीर में (तद्वादः) शरीर व्यवहार होता है ।

भाष्य—शुभाशुभकर्मों का अधिष्ठान = आश्रय बुद्धिसत्त्व है और उसके आश्रयभूत लिङ्गशरीर में शरीरव्यवहार मुख्य है क्योंकि वह भोगायतन = सुखादि भोग का आश्रय है अर्थात् लिङ्गशरीर का आश्रय होने से स्थूलशरीर में व्यवहार होता है ।

सं०—ननु, केवल बुद्धि से ही भोग की सिद्धि होसक्ती है फिर लिङ्गशरीर मानना निष्फल है ? उत्तर :—

न स्वातन्त्रात् तदृते छायावच्चित्रवच्च । १२ ।

पद०-न । स्वातन्त्रात् । तदृते । छायावत् । चित्रवत् । च ।

पदा०-(छायावत्, च, चित्रवत्) छाया और चित्र की भांति (तदृते) लिङ्गशरीर से बिना (स्वातन्त्रात्) स्वतन्त्ररूप से बुद्धि भोगाभोग का सम्पादन (न) नहीं कर सक्ती ।

भाष्य-चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो यथाछाया-तद्वद्विना विशेषैर्नतिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ सां०कारि०

अर्थ-जिसप्रकार आधार से बिना चित्र तथा स्थाणु = वृक्ष से विना छाया की स्थिति नहीं हो सक्ती इसीप्रकार सूक्ष्मशरीर से विना बुद्धिसत्त्व की स्थिति नहीं हो सक्ती इसलिये लिङ्गशरीर का मानना आवश्यक है ।

सं०-ननु, केवल लिंगशरीर द्वारा भोग की सिद्धि होनेसे स्थूल शरीर मानना व्यर्थ है ? उत्तर :—

मूर्त्तत्वेऽपिनसंघातयोगात्तरणिवत् । १३ ।

पद०-मूर्त्तत्वे । अपि । न । संघातयोगात् । तरणिवत् ।

पदा०-(तरणिवत्) सूर्य्यकी भांति (मूर्त्तत्वे) मूर्त्त होने पर (अपि) भी (संघातयोगात्) स्थूलशरीर से विना भोग की सिद्धि (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य-जिसप्रकार प्रकाशरूप सूर्य्य संघात = पृथिवी आदिपदार्थों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता हुआ सबका प्रकाशक होता है इसी प्रकार स्थूल शरीर के सम्बन्ध से विना सूक्ष्म शरीर भोग का साधन नहीं होसक्ता इसलिये स्थूल शरीर का मानना आवश्यक है ।

सं०-अब लिंगशरीर का परिमाण कथन करते हैं:—

अणुपरिमाणंतत्कृतिश्रुतेः । १४ ।

पद०—अणुपरिमाणं । तत्कृतिश्रुतेः ।

पदा०—(तत्कृतिश्रुतेः) लिंगशरीर की उत्पत्ति पाए जाने से (अणुपरिमाणं) परमाणु की भांति सूक्ष्म नहीं ।

भाष्य—इस सूत्र में "न" की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से आती है, "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" मुण्ड० २।१।३ इस उपनिषद्वाक्य द्वारा सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति पाई जाती है, अतएव वह अणु नहीं किन्तु मध्यम परिमाण वाला है ।

सं०—और हेतु कहते हैं :—

तदन्नमयत्वश्रुतेश्च । १५ ।

पद०—तदन्नमयत्वश्रुतेः । च ।

पदा०—(च) और (तदन्नमयत्वश्रुतेः) प्रकृति का कार्य्य पाए जाने से ।

भाष्य—"अन्नमयं हि सोम्य मनः" छा० ६ । ५ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में लिंगशरीर को कार्य्य प्रतिपादन किया है इससे स्पष्ट पायाजाता है कि लिंगशरीर मध्यम परिमाण वाला है क्योंकि जो प्रकृति का कार्य्य होता है वह घटादि की भांति मध्यम परिमाण वाला होता है ।

सं०—अब लिंगशरीर के गमनागमन का प्रयोजन कथन करते हैः—

पुरुषार्थंसंसृतिर्लिङ्गानांसूपकारवत् । १६ ।

पद०—पुरुषार्थं । संसृतिः । लिंगानां । सूपकारवत् ।

पदा०—(सूपकारवत्) पाचक की भांति (लिङ्गानां) लिङ्गशरीरों

का (संसृतिः) गमनागमन (पुरुषार्थं) जीवों के भोग मोक्ष के लिये होता है ।

भाष्य–जिसप्रकार पाचक का पाकशाला में आनाजाना स्वामी के निमित्त होता है इसीप्रकार लिंगशरीर का इसलोक तथा परलोक में आनाजाना अर्थात् गमनागमन जीवों के भोग मोक्ष की सिद्धि के लिये होता है ।

सं०–अब प्रसंगसंगति से स्थूलशरीर का कथन करते हैं :–

पाञ्चभौतिकोदेहः । १७ ।

पद०–पाञ्चभौतिकः । देहः ।

पदा०–(देहः) स्थूल शरीर (पाञ्चभौतिकः) पांच भूतों का परिणाम है ।

भाष्य–आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी यह पांच भूत हैं ।

सं०–अब स्थूलशरीर में एकदेशी का मत कथन करते हैं :—

चातुर्भौतिकमित्येके । १८ ।

पद०–चातुर्भौतिकम् । इति । एके ।

पदा०–(चातुर्भौतिकम्, इति) स्थूलशरीर चारभूतों का परिणाम है (एके) ऐसा कई एक आचार्य्य मानते हैं ।

भाष्य–कई एक आचार्य्य यह मानते हैं कि स्थूलशरीर चार ही भूतों का परिणाम है क्योंकि निरवयव होने से आकाश का परिणाम नहीं होसक्ता ।

सं०–अब अन्य मत कथन करते हैं :–

ऐकभौतिकमित्यपरे । १९

पद०–ऐकभौतिकम् । इति । अपरे ।

पदा०–(एकभौतिकम्, इति) स्थूलशरीर केवल पृथिवी का परिणाम है (अपरे) ऐसा कई एक आचार्य्यों का मत है ।

सं०–अब प्रसंग संगति से देहात्मवाद का खण्डन करते हैं :–

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः । २० ।

पद०–न । सांसिद्धिकं । चैतन्यं । प्रत्येकादृष्टेः ।

पदा०–(प्रत्येकादृष्टेः) प्रत्येक भूत में चेतनता की प्रतीति न होने से (सांसिद्धिकं) स्वाभाविक (चैतन्यं) चेतनता (न) नहीं है ।

भाष्य–"**नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः**" गी० असत् से सत् नहीं होता और न सत् से असत् होता है इस नियमानुसार प्रत्येकभूतों में चेतनता का अभाव होने से अनुमान किया जाता है कि उनके कार्य्यभूत देह में भी चेतनता नहीं है ।

सं०–देह को स्वाभाविक चेतन मानने में और दोष यह है कि :–

प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च । २१ ।

पद०–प्रपञ्चमरणाद्यभावः । च ।

पदा०–(च) यदि देह को चेतन मानाजाय तो (प्रपञ्चमरणाद्यभावः) संसार में मरण और सुषुप्ति का अभाव होगा ।

भाष्य–भाव यह है कि स्वाभाविक चेतन देह का नाश न होने से जीवमात्र की सुषुप्ति तथा मृत्यु की व्यवस्था न रहेगी ।

सं०–जिसप्रकार द्राक्षा आदि प्रत्येक द्रव्यों में मादकता नहीं होती परन्तु उनके यथा योग्य मिलाप से सुरा में मादकता उत्पन्न होजाती है इसी प्रकार भूतों के मिलाप से देह में चैतन्य की उत्पत्ति मानने में क्या हानि ? उत्तर :–

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टेसांहत्ये तदुद्भवः । २२ ।

पद०–मदशक्तिवत् । चेत् । प्रत्येकपरिदृष्टे । सांहत्ये । तदुद्भवः ।

पदा०–(चेत्) यदि (मदशक्तिवत्) मदशक्ति की भांति चेतनता मानीजाय तो भी ठीक नहीं क्योंकि (प्रत्येकपरिदृष्टे) मदिरा जनक प्रत्येक द्रव्य में मादकतापाई जाती है इसलिये (सांहत्ये) उनके मिलनेपर (तदुद्भवः) मादकता शक्ति का आविर्भाव होता है ।

भाष्य–द्राक्षादि प्रत्येक द्रव्य में सूक्ष्मरूप से मादकता होती है उसी का यथायोग्य मिलाप से आविर्भाव होजाता है, परन्तु भूतों के प्रत्येक स्वरूप में चेतनता न होने से उनके कार्य्यभूत देह को चेतन मानना ठीक नहीं, और बात यह है कि जिस प्रकार द्राक्षादि द्रव्यों की मादकता के सूक्ष्मरूप में प्रत्यक्ष वा चिकित्सा शास्त्रप्रमाण है इस प्रकार भूतों की चेतनता में कोई प्रमाण न होने से भूतों के मिलाप से चेतन की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं, यदि इनमें चेतनता होती तो ज्ञानादि गुण अवश्य पाए जाते परन्तु ज्ञानादि गुण न पाए जाने से इनमें चेतनता का अभाव प्रतीत होता है । देहात्मवादी के मत में अन्यदोष यह है कि यदि ज्ञानादि गुणों का आश्रय भूतों को माना जाय तो जिस प्रकार बुद्धि आदि गुणों की व्यवस्था से नाना शरीरों में नाना ज्ञाता माने जाते हैं इसी प्रकार एक शरीर में अनेक ज्ञाता मानने पड़ेंगे क्योंकि ज्ञानादि गुणों के आश्रय शरीर में पञ्चभूत हैं परन्तु एक शरीर में अनेक ज्ञाताओं के होने में कोई प्रमाण नहीं इसलिये चेतनता भूतों का धर्म नहीं और जो देह में चेतनता की प्रतीति होती है वह भ्रममात्र है, और भूतों में चेतनता के अभाव को न्यायसूत्र ३ । २ । ४० के वात्स्यायनभाष्य में इस प्रकार स्फुट

किया है कि "**दृष्टश्चान्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषोभूतानां सोऽनुमानमन्यत्रापि**=जिस प्रकार छिदि आदि क्रिया के साधनभूत कुठारादिकों में वा घटादिकों के उपादान कारण मृत्तिकादिकों में चेतन के सम्बन्ध से चेष्टा पाई जाती है इसी प्रकार देह की चेतनता भी किसी अन्य चेतन के सम्बन्ध से है अपनी नहीं, इसका विस्तार पूर्वक निरूपण न्यायार्य्यभाष्य में किया है विशेष जानने वाले वहां देखलें।

सं०-अब जीव की मुक्ति का कारण कथन करते हैं:-

ज्ञानान्मुक्तिः । २३ ।

पद०-ज्ञानात् । मुक्तिः ।

पदा०-(ज्ञानात्) प्रकृति और पुरुष के विवेकज्ञान से (मुक्तिः) मुक्ति होती है।

भाष्य-विवेकज्ञान और त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति मुक्ति का कारण है।

सं०-अब बन्ध का कारण कथन करते हैं :-

बन्धो विपर्य्ययात् । २४ ।

पद०-बन्धः । विपर्य्ययात् ।

पदा०-(विपर्य्ययात्) अविवेक से (बन्धः) बन्ध होती है।

भाष्य-अविवेक बन्ध का कारण है और वह शरीर सम्बन्ध का हेतु दुःखत्रय का प्रयोजक है।

सं-ननु, केवल ज्ञान से ही मुक्ति क्यों कर्म भी तो उसके हेतु हैं? उत्तर :-

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ । २५ ।

पद०-नियतकारणत्वात् । न । समुच्चयविकल्पौ ।

पदा०-(नियतकारणत्वात्) ज्ञान मुक्ति का नियत कारण होने से (समुच्चयविकल्पौ) समुच्चय अथवा विकल्प नहीं होसक्ते ।

भाष्य-मुक्ति का नियत कारण विवेकज्ञान है उसके साथ कर्मों का समुच्चय वा विकल्प नहीं होसक्ता अर्थात् जिस प्रकार विवेक-ज्ञान अविवेक का निवर्त्तक है इस प्रकार कर्म अविवेक के निवर्त्तक नहीं इसलिये विवेकज्ञान के साधक कर्मों का समुच्चय=मिलकर मुक्ति को सिद्ध करना वा विकल्प=ज्ञानके स्थान में मुक्तिरूप प्रयो-जन कर्म से सिद्ध करना अथवा कर्म के स्थान में उक्त प्रयोजन को ज्ञान से सिद्ध करना नहीं होसक्ता ।

सं०-अब ज्ञानकर्म के समुच्चय तथा विकल्प से मुक्ति न होने का कारण कथन करते हैं :-

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां-नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ।२६।

पद०-स्वप्नजागराभ्याम् । इव । मायिकामायिकाभ्याम् । न । उभयोः । मुक्तिः । पुरुषस्य ।

पदा०-(मायिकामायिकाभ्याम्, स्वप्नजागराभ्याम्, इव) आ-विद्यिक स्वप्न और यथार्थ जाग्रत की भांति (उभयोः) ज्ञान कर्म के समुच्चय तथा विकल्प से (पुरुषस्य) पुरुष की (मुक्तिः) मुक्ति (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य-जिस प्रकार स्वप्न तथा जाग्रत के ज्ञान का समुच्चय वा

विकल्प नहीं होता इसी प्रकार ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय वा विकल्प मुक्ति का हेतु नहीं होसक्ता क्योंकि ज्ञान तात्त्विक पदार्थ है और नित्यकर्म मायिक हैं इसलिये ज्ञान कर्म के समुच्चय तथा विकल्प से मुक्ति की सिद्धि नहीं होसक्ती ।

सं०-अब नैमित्तिक कर्म के समुच्चय का खण्डन करते हैं :-

इतरस्यापि नात्यन्तिकम् । २७ ।

पद०-इतरस्य । अपि । न । आत्यन्तिकम् ।

पदा०-(इतरस्य) नैमित्तिककर्म (अपि) भी (आत्यन्तिकम्) दुःख त्रय की अत्यन्तनिवृत्ति का साधन (न) नहीं होसक्ते ।

भाष्य-जातेष्ट्यादि नैमित्तिककर्म दुःखत्रय की अत्यन्तनिवृत्तिरूप मुक्ति के साधक नहीं क्योंकि वह जिस निमित्त से किये जाते हैं उसी की दृढ़ता के लिये होते हैं अतएव उनका मुक्ति के साथ समुच्चय नहीं होसक्ता ।

सं०-अब काम्यकर्मों के समुच्चय का खण्डन करते हैं :-

सङ्कल्पितेऽप्येवम् । २८ ।

पद०-सङ्कल्पिते । अपि । एवम् ।

पदा०-(एवम्) इसी प्रकर (सङ्कल्पिते) काम्यकर्मों में (अपि) भी जानना चाहिये ।

भाष्य-कारीरयागादि काम्यकर्मों में भी यह दोष है कि वह जिस कामना के लिये किये जाते हैं उसी की सिद्धि के हेतु होते हैं मुक्ति के नहीं, इसलिये इनका भी समुच्चय मानना ठीक नहीं ।

सं०-ननु, क्या किसी कर्म का भी ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं ? उत्तर :-

भावनोपचयाच्छुद्धस्यसर्वं प्रकृतिवत् । २९ ।

पद०-भावनोपचयात् । शुद्धस्य । सर्वम् । प्रकृतिवत् ।

पदा०-(प्रकृतिवत्) सात्त्विक प्रकृति की भांति (शुद्धस्य) शुद्धअन्तःकरणवाले पुरुष के (भावनोपचयात्) ध्यान के उत्कर्ष से (सर्वम्) सर्व कर्म मुक्ति के साधक हैं ।

भाष्य-जिस प्रकार "सत्त्वात्सञ्जायतेज्ञानम्" इत्यादि वाक्यों द्वारा सत्त्वगुण प्रधान प्रकृति में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय पाया जाता है इसी प्रकार ईश्वर के दर्शनरूप साक्षात्कार के साधक निदिध्यासन, धर्ममेघादि कर्मों का विवेकज्ञान के साथ समुच्चय है ।

सं०-अब प्रसंगसंगति से ध्यान का स्वरूप कथन करते हैं:-

रागोपहतिर्ध्यानम् । ३० ।

पद०-रागोपहतिः । ध्यानम् ।

पदा०-(रागोपहतिः) रागनिवृत्ति का नाम (ध्यानम्) ध्यान है ।

भाष्य-चित्तविक्षेप के हेतु विषय के अनुराग का नाम "**राग**" है और राग की निवृत्ति को "**ध्यान**" कहते हैं ।

सं०-अब ध्यान की सिद्धि का हेतु कथन करते हैं:-

वृत्तिनिरोधात्तत्सिद्धिः । ३१ ।

पद०-वृत्तिनिरोधात् । तत्सिद्धिः ।

पदा०-(वृत्तिनिरोधात्) चित्तवृत्ति के निरोध से (तत्सिद्धिः) ध्यान की सिद्धि होती है ।

भाष्य-योगशास्त्र में कथन की हुई प्रमाणादि पांच वृत्तियों के निरोध से ध्यान = योग की सिद्धि होती है, इसका वर्णन विस्तार पूर्वक योगार्य्यभाष्य में किया है विशेष जानने वाले वहां देखलें ।

सं०—ननु, वृत्तिनिरोध की सिद्धि किस प्रकार होती है ? उत्तर :–

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः । ३२ ।

पद०—धारणासनस्वकर्मणा । तत्सिद्धिः ।

पदा०—(धारणासनस्वकर्मणा) धारणा, आसन, स्वकर्म, से (तत्सिद्धिः) वृत्तिनिरोध की सिद्धि होती है ।

सं०—अब धारणा का लक्षण करते हैं :–

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् । ३३ ।

पद०—निरोधः । छर्दिविधारणाभ्याम् ।

पदा०—(छर्दिविधारणाभ्याम्) रेचन तथा स्तम्भन से (निरोधः) प्राणों के निरोध का नाम धारणा है ।

सं०—अब आसन का लक्षण कहते हैं :–

स्थिरसुखमासनम् । ३४ ।

पद०—स्थिरसुखम् । आसनम् ।

पदा०—(स्थिरसुखम्) स्थिर तथा सुखदाई का नाम (आसनम्) आसन है ।

भाष्य—आसन = स्वस्तिकादि भेद से आसन अनेक प्रकार के हैं परन्तु जिसमें सुखपूर्वक स्थिरता पाईजाय वही आसन उपयोगी है, योगार्य्यभाष्य में आसनों का भले प्रकार विवरण किया है विशेष वहां देखलें ।

सं०—अब स्वकर्म का लक्षण करते हैं :—

स्वकर्मस्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् । ३५ ।

पद०—स्वकर्म । स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ।

पदा०—(स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्) अपने २ आश्रम के कर्मों का अनुष्ठान करना (स्वकर्म) स्वकर्म कहलाता है ।

भाष्य–ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों के वेदविहितकर्मों के अनुष्ठान का नाम **"स्वकर्म"** है।

सं०–अब वृत्तिनिरोध का अन्य उपाय कथन करते हैं :—

वैराग्यादभ्यासाच्च । ३६ ।

पद०–वैराग्यात् । अभ्यासात् । च ।

पदा०–(वैराग्यात्) वैराग्य (च) तथा (अभ्यासात्) अभ्यास से वृत्तिनिरोध होता है।

भाष्य–वृत्तिनिरोध का विवरण योगार्य्यभाष्य १ । १२ सूत्र में भले प्रकार किया है, अतएव यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०–पूर्व जो बन्ध का कारण विपर्य्यय कथन कियागया है अब उसके भेद कथन करते हैं :—

विपर्य्ययभेदाःपञ्च । ३७ ।

पद०–विपर्य्ययभेदाः । पञ्च ।

पदा०–(विपर्य्ययभेदाः) अविवेक के भेद (पञ्च) पांच प्रकार के हैं।

भाष्य–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इस भेद से अविवेक पांच प्रकार का है, अविवेक, विपर्य्यय, मिथ्याज्ञान यह पर्य्याय वाची शब्द हैं।

सं०–अब विपर्य्ययज्ञान के हेतु अशक्ति का कथन करते हैं:-

अशक्तिरष्टाविंशतिधा । ३८ ।

पद०–अशक्तिः । अष्टाविंशतिधा ।

पदा०–(अशक्तिः) अशक्ति (अष्टाविंशतिधा) अठाईस प्रकार की है।

भाष्य–बुद्धि के असामर्थ्य का नाम **"अशक्ति"** है । एकादश इन्द्रिय तथा नव प्रकार की तुष्टि और आठप्रकार की सिद्धि

इन सबके विपर्य्यय ज्ञान से अशक्ति अठाईस प्रकार की है।

सं०—अब तुष्टि के भेद कथन करते हैं :—

तुष्टिर्नवधा । ३९ ।

पद०—तुष्टिः । नवधा ।

पदा०—(तुष्टिः) तुष्टि (नवधा) नव प्रकार की है ।

सं०—अब सिद्धि के भेद कथन करते हैं :—

सिद्धिरष्टधा । ४० ।

पद०—सिद्धिः । अष्टधा ।

पदा०—(सिद्धिः) सिद्धि (अष्टधा) आठप्रकार की है।

सं०—अब विपर्य्यय के अवान्तर भेदों का कथन करते हैं :—

अवान्तरभेदाःपूर्ववत् । ४१ ।

पद०—अवान्तरभेदाः । पूर्ववत् ।

पदा०—(अवान्तरभेदाः) विपर्य्यय के अवान्तर भेद (पूर्ववत्) पूर्व की भांति जानना ।

भाष्य—जिसप्रकार विपर्य्यय के अस्मितादि पांच भेद पूर्व वर्णन कर आए हैं इसीप्रकार विषयभेदसे विपर्य्यय के ६२ भेद हैं अर्थात् ८ प्रकार का तम,८ प्रकार का मोह, १० प्रकार का महामोह, १८ प्रकार का तामिस्र और १८ प्रकार का अन्धतामिस्र, इसप्रकार ६२ भेद हैं । प्रकृति से लेकर पञ्चतन्मात्र पर्य्यन्त आठ अनात्मपदार्थों में आत्मबुद्धिरूप अविद्या का नाम "तम" तथा अणिमादि आठ सिद्धियों में अहंअणु = मैं अणु हूं, अहंमहान् = मैं महान् हूं, इस प्रकार अणुत्वादि के तादात्म्य अभिमानरूप अस्मिता का नाम "महामोह" और दिव्यादिव्य भेद से शब्दादि दशप्रकार के विषयों में लोभरूप

रागका नाम "महामोह" और अस्मिता के अणिमादि आठ तथा राग के दिव्यादि दश, इन अठारह विषयों को नष्ट करनेवाले पदार्थों में क्रोधरूप द्वेष का नाम "तामिस्र" और इन अठारह विषयों के नाश से उत्पन्न होनेवाले भयरूप अभिनिवेश का नाम "अन्धतामिस्र" है। इस प्रकार विपर्य्यय के ६२ अवान्तर भेद हैं।

सं०–अब अशक्ति के २८ भेदों का अतिदेश करते हैं:—

एवमितरस्याः ।४२।

पद०–एवं । इतरस्याः ।

पदा०–(एवं) इसी प्रकार (इतरस्याः) अशक्ति के अवान्तर भेद होते हैं।

भाष्य–जिस प्रकार विपर्य्यय के ६२ अवान्तर भेद कथन किये हैं इसी प्रकार अशक्ति के भी २८ अवान्तर भेद हैं जिनको इसी अध्याय के ३८ वें सूत्र में कथन कर आए हैं।

सं०–अब तुष्टि के नव प्रकार के भेदों का कथन करते हैं:-

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ।४३।

पद०–आध्यात्मिकादिभेदात् । नवधा । तुष्टिः ।

पदा०–(आध्यात्मिकादिभेदात्) आध्यात्मिकादि भेद से (तुष्टिः) तुष्टि (नवधा) नव प्रकार की है।

भाष्य–प्रसन्नता का नाम "तुष्टि" है और वह प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य, पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमाम्भ, उत्तमाम्भ, भेद से नव प्रकार की है, प्रकृति का परिणाम विवेकज्ञान पर्यन्त है

और मैं कूटस्थविकार से रहित हूं, इस प्रकार आत्मचिन्तन से होने वाली प्रसन्नता का नाम "**प्रकृति**" और इसीका नाम "**अम्भ**" है, संन्यासाश्रम के ग्रहणमात्र से होने वाली प्रसन्नता का नाम "**उपादान**" और इसी को "**सलिल**" कहते हैं, संन्यास के अनन्तर योगांगों के अनुष्ठान से होने वाली प्रसन्नता का नाम "**काल**" और इसी को "**ओघ**" कहते हैं, विवेकख्याति की परम सीमारूप धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति से होने वाली तुष्टि का नाम "**भाग्य**" और इसी को "**वृष्टि**" कहते हैं, यह चार तुष्टियें आन्तर विषय होने से आध्यात्मिक कहलाती हैं :

शब्दादि पांच वाह्यविषयों में अर्जन दोष के विचार से होने वाली प्रसन्नता का नाम "**पार**" और रक्षणदोष के विचार से होने-वाली प्रसन्नता का नाम "**सुपार**" तथा क्षय दोष के विचार से होनेवाली प्रसन्नता का नाम "**पारापार**" और भोग दोष के विचार से होनेवाली प्रसन्नता कानाम "**अनुत्तमाम्भ**" तथा हिंसा दोष के विचार से होनेवाली प्रसन्नता का नाम "**उत्तमाम्भ**" है, यह पांच वाह्यविषय होने से वाह्य कहलाती हैं, इस प्रकार तुष्टि के नव भेद हैं।

सं०—अब सिद्धि के आठभेद कथन करते हैं:—

ऊहादिभिःसिद्धिः ।४४।

पद०—ऊहादिभिः सिद्धिः ।

पदा०—(ऊहादिभिः) ऊहा आदि के भेद से (सिद्धिः) सिद्धि आठ प्रकार की है ।

भाष्य-यहां ज्ञान प्राप्ति तथा दुःखनिवृत्ति का नाम "सिद्धि" है और वह ऊहा, शब्द, अध्ययन, सुहृद्प्राप्ति और तीन प्रकार का दुःखविघात तथा दान भेद से आठ प्रकार की है । गुरु उपदेश के बिना ही पूर्वजन्म के प्रबल संस्कारों से स्वयमेव तत्त्वविचार का नाम "ऊहा" दूसरे के पाठ को सुनकर स्वयमेव शास्त्र विचार से होने वाले ज्ञान का नाम "शब्द" गुरुशिष्य प्रणाली से शास्त्राध्ययन द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान का नाम "अध्ययन" स्वयमेव करुणा से उपदेश के लिये आए हुए तत्त्ववेत्ता द्वारा ज्ञान प्राप्ति का नाम "सुहृद्प्राप्ति" धनादि दान से प्रसन्न किये हुए विद्वान् द्वारा ज्ञानलाभ का नाम "दान" है। यह पांच सिद्धियें उपायरूप हैं और आध्यात्मिक, आधि-दैविक, आधिभौतिक, इन तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्तिरूप तीन सिद्धियें "फलरूप" हैं । इस प्रकार सिद्धि के आठ भेद हैं ।

सं०-ननु, जैसे ऊहा आदि पांचों को सिद्धि का हेतु होने से सिद्धि कहा इसी प्रकार तप आदि को भी सिद्धि कथन करना चाहिये? उत्तरः-

नेतरादितरहानेनविना ।४५।

पद०-न । इतरात् । इतरहानेन । विना ।

पदा०-(इतरहानेन, विना) विपर्य्ययज्ञान की निवृत्ति के बिना (इतरात्) तप आदि से होने वाली सिद्धि (न) नहीं कहलाती ।

भाष्य-जब तक विपर्य्ययज्ञान की निवृत्ति नहीं होती तब तक तप तथा समाधि आदि से होने वाली सिद्धि आभासरूप है अर्थात् वह सिद्धि नहीं किन्तु सिद्ध्याभास है ।

सं०-अब वाह्यसृष्टि के भेद कथन करते हैं:—

दैवादिप्रभेदा । ४६ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(दैवादिप्रभेदा) दैवादि भेदों वाली भौतिकी सृष्टि होती है।

भाष्य—"सृष्टि" शब्द का आगे के सूत्र से सम्बन्ध है और "आदि" पद से मनुष्य, तिर्यक आदि योनियों का ग्रहण है। विद्वानों का नाम "देव" और गन्धर्व, पिशाच आदि मनुष्यों के प्रभेद हैं।

सं०—ननु, यह सृष्टि किस प्रयोजन के लिये होती है? उत्तरः—

आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तंतत्कृतेसृष्टिरा-विवेकात् । ४७ ।

पद०—आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तम् । तत्कृते । सृष्टिः । आविवेकात् ।

पदा०—(आविवेकात्) जब तक विवेकज्ञान नहीं होता तब तक (आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तम्) ब्रह्मा से लेकर जड़योनियों तक (तत्कृते) पुरुष के लिये (सृष्टिः) सृष्टि होती है।

भाष्य—शमदमादिगुणसम्पन्न ज्ञानी पुरुष का नाम "ब्रह्मा" है जब तक पुरुष को प्रकृति पुरुष का विवेकज्ञान नहीं होता तब तक ज्ञानी पुरुष से लेकर जड़ अवस्था वाले जीवों तक भौतिकी सृष्टि होती है अर्थात् यह सब सृष्टि पुरुष के प्रयोजन के लिये होती है।

सं०—अब सृष्टि के विभाग कथन करते हैं:—

ऊर्ध्वंसत्त्वविशाला । ४८ ।

पद०—ऊर्ध्वं । सत्त्वविशाला ।

पदा०-(सत्त्वविशाला) सत्त्वगुण की विशेषता वाले पुरुषों की (ऊर्ध्व) उत्तम सृष्टि कहलाती है ।

भाष्य-जिस योनि में रजोगुण तथा तमोगुण न्यून होते हैं और सत्त्वगुण अधिक होता है उसको "दैवीसृष्टि" कहते हैं अर्थात् जिन पुरुषों में मन की शुद्धि, सत्यासत्य का विवेक, वैदिककर्मों का अनुष्ठान, इन्द्रियों का दमन, स्वाध्याय, तप, निष्कपटतादि धर्म पाए जाते हैं वह दैवी सृष्टि वाले होते हैं ।

सं०-अब तम प्रधान सृष्टि का वर्णन करते हैं :-

तमोविशालामूलतः । ४९ ।

पद०-तमोविशाला । मूलतः ।

पदा०-(तमोविशाला) अधिक तमोगुण वाली सृष्टि (मूलतः) जड़ता वाली होती है ।

भाष्य-जिन पुरुषों में रजोगुण तथा सत्त्वगुण न्यून होता है और तमोगुण की अधिकता होती है वह तामसी सृष्टि कहलाती है अर्थात् जिनमें दम्भ, अभिमान, क्रोध, अज्ञानादि धर्म पाए जाते हैं वह तामसी सृष्टि वाले होते हैं ।

सं०-अब राजसी सृष्टि का कथन करते हैं :-

मध्येरजोविशाला । ५० ।

पद०-मध्ये । रजोविशाला ।

पदा०-(रजोविशाला) रजोगुण की अधिकता वाले पुरुषों की (मध्ये) मध्यमकोटि की सृष्टि होती है ।

भाष्य-जिन पुरुषों में हिंसा, असत्य, क्रोध, चपलतादि धर्म पाए जाते हैं उन पुरुषों की राजसी सृष्टि कहलाती है ।

सं०—ननु, ऐसे भावों वाली सृष्टि उत्पन्न करने के लिये प्रकृति की चेष्टा क्यों होती है ? उत्तर :—

कर्मवैचित्र्यात्प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ।५१।

पद०—कर्मवैचित्र्यात् । प्रधानचेष्टा । गर्भदासवत् ।

पदा०—(गर्भदासवत्) गर्भदास पुरुष के समान (कर्म वैचित्र्यात्) कर्मों की विलक्षणता से (प्रधानचेष्टा) प्रकृति की चेष्टा होती है ।

भाष्य—जिस प्रकार गर्भदासपुरुष अपने पूर्व कर्मों के अभ्यास से लोगों की सेवा में प्रवृत्त होता है इसी प्रकार सात्त्विकादि कर्मों के कारण ऐसी विषमसृष्टि उत्पन्न करने के लिये प्रकृति प्रवृत्त होती है अर्थात् कर्मों के निमित्त से सृष्टि उत्पन्न करती है ।

सं०—ननु, एवं सात्त्विक कर्मों से पुरुष उच्चगति को प्राप्त होकर कृतार्थ होसक्ता है फिर मोक्ष का क्या प्रयोजन ? उत्तर :—

आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तर-योनियोगाद्धेयः ।५२।

पद०—आवृत्तिः ।तत्र । अपि । उत्तरोत्तरयोनियोगात् । हेयः ।

पदा०—(तत्र,अपि) उच्चगति के लाभ करने पर भी (उत्तरोत्तरयोनियोगात्) उच्च २ योनियों के सम्बन्ध से (आवृत्तिः) उच्च योनि के सुख की स्थिरता के लिये जो यत्न है वह (हेयः) त्याज्य है ।

भाष्य—उच्चयोनि के सम्बन्ध से पुरुष इसलिये कृतार्थ नहीं होता कि उस योनि के सुख को स्थिर रखने के लिये बारम्बार अभ्यास करना पड़ता है अर्थात् जबतक उस अवस्था की स्थिरता के लिये कर्म करता रहता है तभी तक वह स्थिर रहती है इसलिये

मुमुक्षुपुरुष के लिये उत्तम योनि की प्राप्ति भी त्याग योग्य है अतएव मुक्ति की अवश्यकता होती है ।

सं०-और युक्ति यह है कि :-

समानं जरामरणादिजं दुःखम् ।५३।

पद०-समानं । जरामरणादिजं । दुःखम् ।

पदा०-(जरामरणादिजं) जरा = वृद्धावस्था, मरण = मृत्यु, इनसे उत्पन्न होनेवाले (दुःखम्) दुःख (समानं) उस उच्चगति में मिले हुए होते हैं ।

भाष्य-जरा, मरणादि दुःख उच्च से उच्च योनियों में भी बने रहने के कारण मुमुक्षु को योनियें ग्राह्य नहीं होसक्तीं अर्थात् उक्त योनियों में जरा, मरणादि दुःख समान रहते हैं इसलिये मुक्ति की आवश्यकता होती है ।

सं०-ननु, कारणलय से पुरुष कृतार्थ होसक्ता है फिर मोक्ष की क्या आवश्यकता ? उत्तर :-

न कारणलयात्कृतकृत्यता-मग्नवदुत्थानात् । ५४ ।

पद०-न । कारणलयात् । कृतकृत्यता । मग्नवत् । उत्थानात् ।

पदा०-(मग्नवत्) मूर्छावस्था से (उत्थानात्) उठने के समान (कारणलयात्) कारण में लय होने से (कृतकृत्यता) पुरुष की कृतकृत्यता नहीं होती ।

भाष्य-कारणलीन वह पुरुष कहलाते हैं जो अहर्निश प्रकृति का चिन्तन करते हुए उसी में अपने आपको लीन कर देते हैं उनकी अवस्था मूर्छित पुरुष के समान होजाती है इस कारण उससे पुरुष

के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होसक्ती, जिस प्रकार पुरुष जलादिकों में निमग्न होकर किंचित्काल शीतलता को अनुभव करता हुआ फिर पूर्ववत् दाहसंयुक्त होजाता है इसी प्रकार प्रकृतिलय पुरुष भी निमग्न पुरुष के समान किंचित्काल दुःखाभाव की अवस्था को अनुभव करता है विशेष नहीं क्योंकि प्रकृति की रचना उसको फिर बन्धन में डालदेती है इसलिये प्रकृतिलय पुरुष भी कृतकृत्य नहीं होसक्ता।

सं०—ननु, प्रकृति स्वतन्त्र होने से प्रकृतिलय पुरुष के बन्धन का हेतु क्यों होगी ? उत्तर :—

अकार्य्यत्वेपितद्योगःपारवश्यात्। ५५।

पद०—अकार्य्यत्वे। अपि। तद्योगः। पारवश्यात्।

पदा०—(अकार्य्यत्वे, अपि) प्रकृति किसीका कार्य्य न होने पर भी (पारवश्यात्) पराधीन होने से (तद्योगः) उसका योग प्रकृतिलय पुरुष के साथ होजाता है।

भाष्य—यद्यपि प्रकृति किसी का कार्य्य न होने से स्वतन्त्र है तथापि परमात्मा के अधीन होने से पुरुष के साथ योग होताहै, अतएव योग होने से पुरुष के बन्धन का हेतु होसक्ती है।

सं०—ननु, अनन्तसामर्थ्ययुक्त प्रकृति परमात्मा के अधीन कैसे होसक्ती है ? उत्तर :—

स हि सर्ववित्सर्वकर्त्ता। ५६।

पद०—स। हि। सर्ववित्। सर्वकर्त्ता।

पदा०—(स, हि) वह परमात्मा (सर्ववित्) सर्वज्ञ होने से (सर्वकर्त्ता) सब संसार की रचना करने वाला है।

भाष्य—यद्यपि प्रकृति अपरमित तथा महती शक्ति युक्त है तथापि परमात्मा के वशवर्तिनी है क्योंकि वह परमात्मा सबका जानने वाला और सारी सृष्टि का कर्त्ता है जैसाकि "रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्" ब्र०सू० २।२।१ में वर्णन किया है कि उस परमात्मा से बिना प्रकृति में रचना नहीं हो सक्ती, इस प्रकार प्रकृति महति होने से भी परमात्मा के अधीन है।

सं०—ननु, सर्ववित, सर्वकर्त्ता कथन करने से यह सिद्ध नहीं होता कि अमुक ईश्वर है किन्तु यह सिद्ध होता है कि जो सर्वज्ञादि गुण युक्त होजाय वही ईश्वर है? उत्तर :—

ईदृशेश्वरसिद्धिःसिद्धा।५७।

पद०—ईदृशेश्वरसिद्धिः। सिद्धा।

पदा०—(ईदृशेश्वरसिद्धिः) सर्वज्ञादि गुणयुक्त ईश्वर की सिद्धि (सिद्धा) वैदिक ईश्वर की सिद्धि सिद्ध होती है।

भाष्य—सर्ववित, सर्वकर्त्ता कथन करने से यह सिद्ध होता है कि इन गुणों वाला ईश्वर ही होसकता है जीवनहीं, यद्यपि योगद्वारा सर्वज्ञातृत्व जीव में भी होसक्ता है परन्तु सर्वकर्त्तृत्वादि गुणों की सिद्धि कदापि नहीं होसक्ती जैसाकि "जगदव्यापारवर्जम्" ब्र०सू० ४।४।१७ में यह कथन किया है कि जीव के साधन सम्पन्न होने से भी उसका ऐश्वर्य्य जगत् उत्पत्ति के व्यापारवाला नहीं होसक्ता।

ननु—सां० १।१६० सूत्र में ईश्वर का प्रतिपादन कर आए हैं फिर यहां ईश्वर का प्रतिपादन किया, इस पिष्टपेषण से क्या फल? उत्तर—वहां पर प्रकृति तथा जीव के स्वरूप से उसकी व्यावृत्ति की

है और यहां पर ईश्वर का जगत्कर्तृत्वरूप ऐश्वर्य्य वर्णन कियागया है इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं ।

सं०—ननु, परवशवर्तिनी प्रकृति की सृष्टि जीवसृष्टि के समान आत्मप्रयोजन के लिये क्यों नहीं ? उत्तर :—

प्रधानसृष्टिःपरार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत् । ५८ ।

पद०—प्रधानसृष्टिः । परार्थं । स्वतः । अपि । अभोक्तृत्वात् । उष्ट्र-कुङ्कुमवहनवत् ।

पदा०—(उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्) ऊंट पर केसर के भार समान(प्रधान-सृष्टिः) प्रकृति की सृष्टि (परार्थं) दूसरे के लिये होती है क्योंकि (स्वतः, अपि) अपने आप (अभोक्तृत्वात्) प्रकृति भोक्ता नहीं बन सक्ती ।

भाष्य—सूत्र में "अपि" शब्द निर्धारणार्थ आया है अर्थात् जिस प्रकार ऊंट का केसर का बोझ ढ़ोना उसके अपने अर्थ नहीं किन्तु परार्थ है इसीप्रकार प्रकृति जड़ होने से उसकी सृष्टि अन्य के प्रयोजन के लिये ही होती है । इस सूत्र ने यह भी सूचन कर दिया कि ऊंटपर केसर का बोझ लादनेवाला जिसप्रकार चेतनकर्त्ता आवश्यक है इसीप्रकार प्रकृति का स्वामी मानना भी आवश्यक है ।

सं०—ननु,वह जड़प्रकृति किसप्रकार परहित चेष्टा करती है ? उत्तरः—

अचेतनत्वेऽपिक्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य । ५९ ।

पद०—अचेतनत्वे । अपि । क्षीरवत् । चेष्टितं । प्रधानस्य ।

पदा०-(अचेतनत्वे, अपि) जड़ होने पर भी (प्रधानस्य) प्रकृति का (चेष्टितं) चेष्टारूपकर्म (क्षीरवत्) दूधके समान होता है ।

भाष्य-जिस प्रकार जड़दूध वत्स के निमित्त चेष्टा करता है इसी प्रकार जड़ प्रकृति भी पुरुष के भोग मोक्ष के लिये चेष्टा करती है ।

सं०-और युक्ति कहते हैं:-

कर्मवद्दृष्टेर्वाकालादेः । ६० ।

पद०-कर्मवत् । दृष्टेः । वा । कालादेः ।

पदा०-(कालादेः) कालादि जड़ पदार्थों के (कर्मवत्) कर्म समान (दृष्टेः) दूसरे के लिये चेष्टा देखेजाने से ।

भाष्य-सूत्र में "वा" शब्द अन्य युक्ति के लिये आया है, जिस प्रकार जड़ कालादिकों द्वारा षट् ऋतुओं का परिवर्त्तनरूप कर्म चेतन के भोगार्थ होता है इसी प्रकार प्रधान की चेष्टा भी पर-भोग के लिये होती है ।

सं०-ननु, जब जड़ प्रकृति में यह विचार ही नहीं कि मैं अमुक पुरुष के लिये यह करूं तो फिर उसकी चेष्टा पर के लिये कैसे होसकती है ? उत्तर :-

स्वभावच्चेष्टितमनभिसन्धाना-
द्भृत्यवत् । ६१ ।

पद०-स्वभावात् । चेष्टितं । अनभिसन्धानात् । भृत्यवत् ।

पदा०-(भृत्यवत्) दास के समान (अनभिसन्धानात्) बिना सङ्कल्प से (स्वभावात्) स्वभावसिद्ध (चेष्टितं) प्रकृति की चेष्टा होती है ।

भाष्य-जिसप्रकार भृत्य=नोकर विना विचार से भी स्वभावसिद्ध

स्वामी के लिये चेष्टा करता है इसीप्रकार प्रकृति में भी स्वाभाविक ही पुरुष के भोग मोक्ष के लिये चेष्टा होती है।

सं०-और युक्ति यह है कि :—

कर्माकृष्टेर्वानादितः। ६२।

पद०-कर्माकृष्टेः। वा। अनादितः।

पदा०-(वा) अथवा (अनादितः) अनादिकाल से (कर्माकृष्टेः) कर्मों की खेंच से प्रकृति में चेष्टा होती है।

भाष्य-जीवों के जो प्रथम सृष्टि के कर्म हैं उनके निमित्त से पुरुषों के भोगार्थ प्रकृति की चेष्टा होती है सूत्र में "अनादि" शब्द कर्मों को प्रवाहरूप से अनादि कथन करने के अभिप्राय से आया है।

सं०-यदि स्वभाव वा कर्मों के चक्र द्वारा प्रकृति से सृष्टि होती है तो कभी बन्द नहीं होनी चाहिये ? उत्तर :—

विविक्तबोधात्सृष्टिनिवृत्तिःप्रधानस्य सूदवत्पाके। ६३।

पद०-विविक्तबोधात्। सृष्टिनिवृत्तिः। प्रधानस्य। सूदवत्। पाके।

पदा०-(सूदवत्, पाके) जिसप्रकार भोजन के पक जाने पर सूद=रसोइया अपने काम को समाप्त कर देता है इसीप्रकार (विविक्तबोधात्) विरक्त पुरुष के बोध होने पर (प्रधानस्य) प्रकृति की (सृष्टिनिवृत्तिः) रचना की निवृत्ति होजाती है।

भाष्य-प्रकृति और प्रकृति के कार्य्यों से विरक्त पुरुष का नाम "विविक्त" है, जब विविक्तपुरुष को प्रकृति और पुरुष का विवेक होजाता है तब प्रकृति उसके लिये भोग को उत्पन्न नहीं करती, जिसप्रकार भोजन की पाक क्रिया की समाप्ति होनेपर फिर रसोइया

पाकक्रिया नहीं करता एवं प्रकृति भी तत्त्वज्ञान से प्रथम ही भोग को उत्पन्न करती है पश्चात् नहीं इसलिये तत्त्वज्ञानी पुरुष के बन्धन का हेतु नहीं होती।

सं०-ननु, इसका क्या कारण कि एकही प्रकृति तत्त्ववेता के लिये बन्धन का हेतु नहीं होती और अज्ञानी के बन्धन का हेतु होती है? उत्तर:—

इतरइतरवत्तद्दोषात् । ६४ ।

पद०-इतरः। इतरवत्। तद्दोषात्।

पदा०-(तद्दोषात्) प्रकृति के दोष से (इतरः) तत्त्ववेत्ता से भिन्न पुरुष (इतरवत्) अज्ञानी पुरुष के समान प्रकृति के बन्धन में आता है।

भाष्य-एक ही प्रकृति ज्ञानी के बन्धन का हेतु इसलिये नहीं कि उसने उसके दोषों को जानलिया है और जिसपुरुष ने उसके दोषों को नहीं जाना उसके बन्धन का हेतु होती है। जिसप्रकार लोक में अनन्त दोष युक्त पदार्थ अज्ञाततत्त्व पुरुष को दूषित करते हैं और ज्ञातज्ञेय को नहीं, इसीप्रकार प्रकृति भी ज्ञातज्ञेय के बन्धन का हेतु नहीं होती।

सं०-ननु, प्रकृति पुरुष के विवेक से जो सृष्टि की निवृत्ति कथन की है वही मुक्ति है फिर मुक्ति का पृथक् निरूपण क्यों किया? उत्तर:—

द्वयोरेकतरस्यवौदासीन्यमपवर्गः । ६५ ।

पद०-द्वयोः। एकतरस्य। वा। औदासीन्यं। अपवर्गः।

पदा०-(द्वयोः) प्रकृति, पुरुष दोनों की (वा) अथवा (एकतरस्य) एक की (औदासीन्यं) उदासीनता का नाम (अपवर्गः) मुक्ति है।

भाष्य–प्रकृति पुरुष के तत्त्वज्ञान से प्रकृति तथा पुरुष दोनों की अथवा दोनों में से एक की उदासीनता का नाम "अपवर्ग" है अर्थात् जब प्रकृति का गुणाधिकार समाप्त होजाता है अथवा उसके दोषों को देखकर जीव उदासीन होजाता है उसको "मुक्ति" कहते हैं, यह मुक्ति केवल निवृत्तिरूप नहीं किन्तु प्राकृत दोषों की निवृत्ति और ब्रह्मानन्द का उपभोगस्वरूप है जैसाकि "सुखला-भाभावादपुरुषार्थत्वमितिचेन्नद्वैविध्यात्" सां० ६ । ९ इस सूत्र में कथन किया है कि केवल प्राकृत सुखों के अभाव का नाम ही मुक्ति नहीं किन्तु दो प्रकार के भावों से मिश्रित है अर्थात् दुःखात्यन्तनिवृत्ति और ब्रह्मानन्द का उपभोग मुक्ति है जैसाकि "सोऽश्नुतेसर्वान्कामान्सहब्रह्मणाविपश्चिता" और "आनन्दोब्रह्मणोविद्वान्नबिभेतिकुतश्चन" इत्यादि औपनिषदवाक्यों में वर्णन किया है कि मुक्तपुरुष ब्रह्म के साथ मिलकर आनन्द को भोक्ता है और ब्रह्मानन्द का लाभ करके फिर किसी से भय नहीं करता, इसीका नाम "तद्धर्मतापत्ति" और इसी को "ईश्वर-प्राप्ति" कहते हैं, एवंविध मुक्ति संसारनिवृत्तिरूप नहीं किन्तु संसार-निवृत्तिमूलक है अतएव मुक्ति को केवल संसारनिवृत्तिरूप मानना ठीक नहीं ।

सं०–ननु, जब एक पुरुष से प्रकृति की उदासीनता होती है तो औरों से भी होनी चाहिये ? उत्तर :–

अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्ध-

रज्जुतत्त्वस्येवोरगः । ६६ ।

पद०—अन्यसृष्ट्युपरागे । अपि । न । विरज्यते । प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्य । इव । उरगः ।

पदा०—(प्रबुद्धरज्जुतत्त्वस्य) जिस प्रकार रज्जु के तत्त्ववेत्ता पुरुष के लिये भ्रान्तिभूत (उरगः) सांप बन्धन का हेतु नहीं होता (इव) इसी प्रकार प्रकृति (अन्यसृष्ट्युपरागे) अन्य अज्ञानी के लिये सृष्टि रचने में (अपि) निश्चय करके (न, विरज्यते) उदासीन नहीं होती।

भाष्य—जिस प्रकार भ्रान्तिभूतसर्प के अधिष्ठान रज्जु के साक्षात्कार से सर्प पुरुष के प्रति भय कम्पादिकों का हेतु नहीं होता इसी प्रकार प्रकृति के तत्त्ववेत्ता पुरुष के प्रति प्रकृति का बन्धन नहीं होता और अज्ञानी पुरुष के लिये प्रकृति का बन्धन यथावस्थित बना रहता है एवं एक के प्रति प्रकृति उदासीन होने से प्रत्येक के बन्ध की निवृत्ति नहीं होती।

सं०—अब और हेतु कहते हैं :—

कर्मनिमित्तयोगाच्च । ६७ ।

पद०—कर्मनिमित्तयोगात् । च ।

पदा०—(च) और (कर्मनिमित्तयोगात्) बन्धन का हेतु जो कर्मनिमित्त उनके साथ योग होने से।

भाष्य—प्रकृति सब के प्रति इस कारण भी उदासीन नहीं होसक्ती कि जिनका कर्मरूपी बन्धन अभी शेष है उनके लिये प्रकृति का गुणाधिकार समाप्त नहीं हुआ, इसलिये एक के प्रति उदासीन होने से सब के प्रति उदासीन नहीं होसक्ती।

सं०–ननु, प्रकृति किस प्रत्युपकार के लिये पुरुषों को भोग मोक्ष देने के लिये पुनः प्रवृत्त होती है ? उत्तर :–

नैरपेक्ष्येऽपिप्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् । ६८ ।

पद०–नैरपेक्ष्ये । अपि । प्रकृत्युपकारे । अविवेकः । निमित्तम् ।

पदा०–(नैरपेक्ष्ये, अपि) प्रकृति को किसी प्रकार की अपेक्षा न होने पर भी (प्रकृत्युपकारे) प्रकृति के भोगमोक्षरूप उपकार में (अविवेकः) अज्ञान (निमित्तं) कारण है ।

भाष्य–यद्यपि प्रकृति को पुरुष के लिये सृष्टि रचने में कोई फल नहीं तथापि वह पुरुष के लिये सृष्टि इस प्रयोजन से रचती है कि पुरुष अविवेकी है अर्थात् प्रकृति के सत्त्वादिगुण अविवेकी पुरुष को बांधते हैं विवेकी को नहीं ।

सं०–ननु, प्रकृति तो प्रवृत्ति स्वभाव वाली है फिर उसकी निवृत्ति विवेकद्वारा कैसे होसक्ती है ? उत्तरः–

नर्तकीवत्प्रवृत्तस्यापिनिवृत्तिश्चा-रितार्थ्यात् । ६९ ।

पद०–नर्तकीवत् । प्रवृत्तस्य । अपि । निवृत्तिः । चारितार्थ्यात् ।

पदा०–(प्रवृत्तस्य, अपि) प्रकृति प्रवृत्ति स्वभाव वाली होने पर भी (चारितार्थ्यात्) कृतकार्य्य होने से (नर्तकीवत्) नृत्यकरने वाली के समान (निवृत्तिः) निवृत्त होसक्ती है ।

भाष्य–जिस प्रकार नर्तकी अपने सृङ्गार के भावों से पुरुष को

मोहित करके निवृत्त होजाती है, इसी प्रकार प्रकृति भी कृत्कार्य्य होने से निवृत्त होजाती है ।

सं०–और युक्ति यह है कि :–

दोषवोधेऽपिनोपसर्पणंप्रधानस्यकुल-वधूवत् । ७० ।

पद०–दोषवोधे । अपि । न । उपसर्पणं । प्रधानस्य । कुलवधूवत् ।

पदा०–(कुलवधूवत्) कुलीन स्त्री के समान (दोषवोधे) दोष के वोध होने पर (प्रधानस्य) प्रकृति का (उपसर्पणं) पुरुष के बन्धन का हेतु होना (न) नहीं होता ।

भाष्य–जिस प्रकार कुलीन स्त्री अपने दोषों के वोध वाले पुरुष के सन्मुख नहीं होती इसी प्रकार प्रकृति भी स्वदोषों के ज्ञाता से भय करती है अर्थात् परिणामित्व दुःखित्व आदि जो प्रकृति के दोष हैं उनको तत्त्ववेत्ता पुरुष जानलेता है इसलिये प्रकृति उसके बन्धन का हेतु नहीं होती ।

सं०–ननु, यदि प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष में बन्ध, मोक्ष माने जायं तो पुरुष विकारी होगा ? उत्तरः–

नैकान्ततोबन्धमोक्षौपुरुषस्या-विवेकादृते । ७१ ।

पद०–न । एकान्ततः । बन्धमोक्षौ । पुरुषस्य । अविवेकात् । ऋते ।

पदा०–(पुरुषस्य) पुरुष को (बन्धमोक्षौ) बन्ध, मोक्ष (अविवेकात्, ऋते) अविवेक से होते हैं (एकान्ततः) परमार्थ से (न) नहीं ।

भाष्य–पुरुष स्वरूप से कूटस्थनित्य है इस कारण उसके स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, उसको जो बन्ध और मोक्ष

होते हैं वह केवल अज्ञान से होते हैं इसलिये वह विकारी नहीं होसक्ता।

सं०—ननु,यदि वास्तव में बन्ध,मोक्ष पुरुष में नहीं तो किसमें हैं? उत्तरः—

प्रकृतेराञ्जस्यात्ससङ्गत्वात्पशुवत्।७२।

पद०—प्रकृतेराञ्जस्यात्। ससङ्गत्वात्। पशुवत्।

पदा०—(पशुवत्) जिस प्रकार रज्जु पशुओं का बन्धन तथा मोक्ष का हेतु होती है इसी प्रकार (ससङ्गत्वात्) बन्ध, मोक्ष प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने से पुरुष में प्रतीत होते हैं, वास्तव में (प्रकृतेराञ्जस्यात्) वह ठीक २ प्रकृति के धर्म हैं।

भाष्य—जिस प्रकार रज्जुरूपगुण के सम्बन्ध से गवादि पशुओं का बन्धन होता है इसीप्रकार बन्ध मोक्ष के हेतु जो प्रकृति के गुण धर्माधर्मादि हैं उनके सङ्ग से पुरुष को बन्ध होता है वास्तव नहीं।

सं०—ननु,किन२ गुणों से प्रकृति पुरुष का बन्धन करती है? उत्तरः—

रूपैःसप्तभिरात्मानंबध्नातिप्रधानंकोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण।७३।

पद०—रूपैः। सप्तभिः। आत्मानं। बध्नाति। प्रधानं। कोशकारवत्। विमोचयति। एकरूपेण।

पदा०—(कोशकारवत्) कोशकारकीट के समान (प्रधानं) प्रकृति (सप्तभिः, रूपैः) सात रूपों से (आत्मानं) जीव को (बध्नाति) बांधती है और (एकरूपेण) एकरूप से (विमोचयति) मुक्त करती है।

भाष्य—धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य,यह प्रकृति के सात गुण पुरुष बन्ध के हेतु हैं और एक विवेक मुक्ति का हेतु है,यहां विवेक शब्द अप्राकृत के अभिप्राय से आया है प्रकृति

के सत्वगुण के अभिप्राय से नहीं क्योंकि "सुखसङ्गेनबध्नाति" गी० १४। ६ इत्यादि श्लोकों में प्रकृति का गुणरूप विवेक भी बन्धन का हेतु मानागया है।

सं०-ननु,अधर्मादि तो पापरूप होने से बन्ध का हेतु होसक्ते हैं पर अज्ञान बन्ध का हेतु कैसे? उत्तर:-

निमित्तत्वमविवेकस्येतिनदृष्टहानिः। ७४।

पद०-निमित्तत्वम्। अविवेकस्य। इति। न। दृष्टहानिः।

पदा०-(अविवेकस्य) अविवेक का (निमित्तत्वम्) निमित्तहोना पाया जाता है (इति) इस लिये (दृष्टहानिः) लोक विरोध (न)नहीं।

भाष्य-जिसप्रकार लोक में पापादिकों को बन्ध का हेतु देखा जाता है इसीप्रकार अज्ञान भी बन्ध का निमित्त होता है जैसा कि मीन अज्ञान के कारण आटे से मिलेहुए लोहरूप कांटे में फस जाती है, इसीप्रकार जीवभी अज्ञान के निमित्त बन्धन में आजाता है।

सं०-अब अज्ञान निवर्त्तक विवेकज्ञान का कारण कथन करते हैं:-

तत्वाभ्यासान्नेतिनेतीतित्यागाद् विवेकसिद्धिः। ७५।

पद०-तत्वाभ्यासात्।न। इति। न। इति। त्यागात्। विवेकसिद्धिः।

पदा०-(न, इति, न,इति) यह आत्मा नहीं, यह आत्मा नहीं, इस प्रकार (त्यागात्) प्राकृत पदार्थों के त्याग से और (तत्वाभ्यासात्) एकतत्वरूप परमात्मा के दृढ़ अभ्यास से (विवेकसिद्धिः) विवेकज्ञान की सिद्धि होती है।

भाष्य-यहां "तत्व" शब्द के अर्थ योग्यता बल से ईश्वर के हैं क्योंकि और प्रकार के तत्व का अभ्यास सांख्य वा योगशास्त्र

में नहीं मिलता जैसाकि "तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः" यो० १। ३२ में तत्त्व शब्द से ईश्वर का ग्रहण है, इसीप्रकार यहांभी तत्त्व शब्द ईश्वर का वाचक है। भाव यह है कि ईश्वराभ्यास और नेति नेति रूप से प्रकृति का त्याग विवेकज्ञान की सिद्धि का कारण है।

सं०—ननु, उक्त कारण से एक ही जन्म में विवेकज्ञान की सिद्धि होनी चाहिये ? उत्तर :—

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः । ७६ ।

पद०—अधिकारिप्रभेदात् । न । नियमः ।

पदा०—(अधिकारिप्रभेदात्) अधिकारियों के भेद से (नियमः) एक जन्म का नियम (न) नहीं ।

भाष्य—उत्तम मध्यम अधम भेद से अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं इसलिये यह नियम नहीं होसक्ता कि सब को एक ही जन्म में विवेकज्ञान की सिद्धि हो यदि उत्तम अधिकारी हो तो एक जन्म में भी विवेकज्ञान हो सक्ता है ।

सं०—ननु, विवेकज्ञान के अनन्तर सर्व दुःखों की निवृत्ति होने से उस जन्म में भोग नहीं होसक्ता ? उत्तर :—

बाधितानुवृत्त्यामध्यविवेकतो ऽप्युपभोगः । ७७ ।

पद०—बाधितानुवृत्त्या । मध्यविवेकतः । अपि । उपभोगः ।

पदा०—(मध्यविवेकतः) मध्यम अवस्था के विवेक से (बाधितानुवृत्त्या) बाधित हुए दुःखों की प्रारब्ध कर्मोंद्वारा अनुवृत्ति होती है इसलिये (उपयोगः, अपि) भोग भी होसक्ता है ।

भाष्य—तीन प्रकार के अधिकारी पाए जाने से विवेक भी

तीन प्रकार का है और मध्यम अवस्था के विवेक से प्रारब्ध कर्मों की निवृत्ति नहीं हो सक्ती अतएव भोग भी बना रहता है।

सं०–ननु, यदि विवेक होने पर भी भोग बना रहता है तो फिर विवेक से क्या लाभ? उत्तर :—

जीवन्मुक्तश्च । ७८ ।

पद०–जीवन्मुक्तः । च ।

पदा०–(च) भोगके होने परभी (जीवन्मुक्तः) जीवन्मुक्तहोताहै।

भाष्य–यद्यपि विवेक होने पर भी सुख दुःख का भोग बनारहता है तथापि पुरुष जीवन्मुक्त होता है अर्थात् प्रारब्धकर्मों द्वारा सुख दुःख को भोगता हुआ विवेकबल से दुःखी नहीं होता यही विवेक का लाभ है।

सं०–ननु, जीवन्मुक्त की सिद्धि किसप्रकार होती है? उत्तरः–

उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः । ७९ ।

पद०–उपदेश्योपदेष्टृत्वात् । तत्सिद्धिः ।

पदा०–(उपदेश्योपदेष्टृत्वात्) उपदेश्य और उपदेष्टा के होने से (तत्सिद्धिः) जीवन्मुक्त की सिद्धि होती है।

भाष्य–उपदेश के अधिकारी को "उपदेश्य" और उपदेश करने वाले को "उपदेष्टा" कहते हैं, इन दोनों के होने से जीवन्मुक्त की सिद्धि पाई जाती है अर्थात् मन्दविवेक वाला अधिकारी उपदेश्य है, और उत्तम विवेक वाला उपदेष्टा जीवन्मुक्त है, इसप्रकार उपदेश्य उपदेशकभाव से जीवन्मुक्त की सिद्धि होती है।

सं०–अब जीवन्मुक्त की सिद्धि में श्रुति प्रमाण कहते हैं :–

श्रुतिश्च । ८० ।

पद०—श्रुतिः । च ।

पदा०—(च) और (श्रुतिः) श्रुति प्रमाण है ।

भाष्य—"अतिमृत्युमेति" यजु० ३१ । १८ = विवेक ज्ञान के प्रभाव से जीता हुआ भी मृत्यु से रहित होसक्ता है ।

इसलिये प्रारब्ध कर्मों के अनुसार भोगों को भोगता हुआ भी ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त होता है क्योंकि उसके जीवन पर्य्यन्त ब्रह्मवेदन बना रहता है ।

सं०—ननु, जीवन्मुक्त के न मानने में क्या हानि ? उत्तर :—

इतरथाऽन्धपरम्परा । ८१ ।

पद०—इतरथा । अन्धपरम्परा ।

पदा०—(इतरथा) जीवन्मुक्त के न मानने से (अन्धपरम्परा) अन्धपरम्परा होगी ।

भाष्य—यदि जीवन्मुक्त को न माना जाय तो विवेकरूपी नेत्रों से रहित होने के कारण गुरु और शिष्य दोनों अन्ध होंगे अर्थात् दोनों विचार शून्य होंगे ।

सं०—ननु, विवेकज्ञान से मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने पर जीवन्मुक्त पुरुष का शरीर कैसे स्थिर रहता है ? उत्तर :—

चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः । ८२ ।

पद०—चक्रभ्रमणवत् । धृतशरीरः ।

पदा०—(चक्रभ्रमणवत्) चक्र के भ्रमण की भांति (धृतशरीरः) जीवन्मुक्त का शरीर स्थिर रहता है ।

भाष्य—जिस प्रकार दण्ड से चलायमान चक्र का दण्ड के

निवृत्त होने पर भी भ्रमण बना रहता है इसी प्रकार विवेकज्ञान से मिथ्याज्ञान के निवृत्त होने पर भी प्रारब्ध कर्मों से जीवन्मुक्त का शरीर स्थिर रहता है।

सं०—ननु, भोगादि वासनाओं के नाश होने पर जीवन्मुक्त का शरीर नहीं रहना चाहिये ? उत्तर :—

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः । ८३ ।

पद०—संस्कारलेशतः । तत्सिद्धिः ।

पदा०—(संस्कारलेशतः) संस्कारों के लेश से (तत्सिद्धिः) जीवन्मुक्त का शरीर बना रहता है।

भाष्य—शरीर स्थिति के हेतु विषय भोग की वासनाओं के आभास का नाम "संस्कारलेश" है और यह भोगवासनाओं के नाश होने पर जीवन्मुक्त की शरीर स्थिति का हेतु है।

सं०—अब भोग से प्रारब्ध कर्मों के नाश होने के अनन्तर होनेवाली मुख्यमुक्ति का कथन करते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं :—

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यो नेतरान्नेतरात् । ८४ ।

पद०—विवेकात् । निःशेषदुःखनिवृत्तौ । कृतकृत्यः । न । इतरात् । न । इतरात् ।

पदा०—(विवेकात्) विवेकज्ञान से (निःशेषदुःखनिवृत्तौ) सर्वदुःखों की निवृत्ति होने पर (कृतकृत्यः) पुरुष कृतार्थ होजाता है (इतरात्, न) और से नहीं।

भाष्य—सूत्र में "नेतरात्" पद दोबार अध्याय की समाप्ति के लिये आया है। जिस विवेकज्ञान से सर्व दुःखों की निवृत्ति कथन

की है वह प्राकृत नहीं किन्तु ईश्वर के दृढ़ अभ्यास से उत्पन्न होता है, इसी का नाम योगशास्त्र में "धर्ममेघसमाधि" है, जैसाकि "ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः" यो० ४।३० में विवेकज्ञान से सर्व दुःखों की निवृत्ति मानी है।

ननु--इस विवेकज्ञान को धर्ममेघ कैसे कहा जासक्ता है क्योंकि योगशास्त्र में समाधि की सिद्धि का ईश्वरप्रणिधान भी हेतु है और सांख्यशास्त्र में प्रकृति पुरुष के विवेक का नाम ही विवेकज्ञान है जिसमें ईश्वर के प्रणिधान की कोई आवश्यक्ता नहीं ? उत्तर--प्रकृति पुरुष के विवेक का नाम ही विवेकज्ञान है यहभाव अवैदिक सांख्य वादियों का है वैदिकों का नहीं, यदि सांख्यशास्त्र का यह तात्पर्य्य होता तो इस शास्त्र में ईश्वर के निदिध्यासन की कोई आवश्यक्ता न पाईजाती जैसाकि "तत्त्वाभ्यासान्नेतिनेतीति" सां० ३।७५ इस सूत्र में तत्त्वाभ्यास मानागया है, इस शास्त्र में कोई ऐसा तत्त्व नहीं मानागया जिसके दृढ़ अभ्यास से विवेक की सिद्धि हो। विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र में त्याग को ही तत्त्वमाना है कि त्यागरूप तत्त्व के अभ्यास से विवेक की सिद्धि होती है और "सएषनेतिनेत्यात्मा" इस उपनिषद् वाक्य का प्रमाण दिया है, यह वाक्य त्याग को प्रतिपादन नहीं करता किन्तु आत्मतत्त्व को तत्त्व प्रतिपादन करता है, इस से पायाजाता है कि तत्त्व से तात्पर्य्य यहां परमात्मा का है जैसाकि "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस वाक्य में आत्मतत्त्व का ग्रहण है, एवं वैदिक वाक्यों के साथ मिलान करने से सांख्यशास्त्र में तत्त्वाभ्यास के अर्थ ईश्वराभ्यास के हैं, इस प्रकार ईश्वराभ्यासरूप धर्ममेघ समाधि

से सर्व दुःखों का नाश सांख्यशास्त्र में माना है, अन्यका निषेध केवल कर्म के अभिप्राय से है ज्ञानकर्म के समुच्चय के अभिप्राय से नहीं क्योंकि यादि ईश्वर के निदिध्यासनरूपकर्म का यहां निषेध होता तो "भावनोपचयाच्छुद्धस्यसर्वंप्रकृतिवत्" सां० ३।२९ इस सूत्र में निदिध्यासनरूपकर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय न मानाजाता। एवं पूर्वोत्तर विचार करने से ज्ञात होता है कि यहां तद्धर्मतापत्तिरूपमुक्ति का ग्रहण है केवल दुःखाभावरूपमुक्ति का नहीं, मुक्ति में ब्रह्मधर्मों की प्राप्ति "समाधिसुषुप्तिमोक्षेषुब्रह्मरूपता" सां० ५। १६, सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमितिचेन्नद्वैविध्यात्" सां० ६।९, इत्यादि सूत्रों में स्पष्टरूप से प्रतिपादन कीगई है। और जो इस सूत्र में केवल विवेक का नाम कथन कियागया है वह इस अभिप्राय से है कि सब शास्त्रकारों के मत में प्रायः बन्ध का हेतु अविद्या है उसका निवर्त्तक विवेक है और अविद्यानिवृत्ति के अनन्तर ब्रह्मानन्दोपभोग अवश्यं भावी है, इसलिये विवेक को मुख्य मानागया है।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
सांख्यार्य्यभाष्ये
तृतीयाध्यायः

ओ३म्

अथ चतुर्थाध्यायः प्रारभ्यते

सं०—तृतीयध्याय में स्थूलशरीर और लिङ्गशरीर की रचना तथा मुक्ति और मुक्ति के साधनों का वर्णन किया, अब इस अध्याय में अनेक दृष्टान्तों द्वारा विवेकज्ञान के हेतु कथन करते हैं:—

राजपुत्रवत्तत्त्वोपदेशात् । १ ।

पद०—राजपुत्रवत् । तत्त्वोपदेशात् ।

पदा०—(राजपुत्रवत्) राजपुत्र की भांति (तत्त्वोपदेशात्) आत्मतत्त्व के उपदेश से विवेकज्ञान होता है ।

भाष्य—जिस प्रकार रामचन्द्रजी को वसिष्ठ के उपदेश से विवेकज्ञान हुआ इसी प्रकार दुःखात्यन्तनिवृत्ति के हेतुभूत विवेकज्ञान की प्राप्ति गुरुकृत उपदेश द्वारा होती है ।

सं०—ननु, जिसको गुरु उपदेश करता है उसी को विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है अन्य को नहीं ? उत्तरः—

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि । २ ।

पद०—पिशाचवत् । अन्यार्थोपदेशे । अपि ।

पदा०—(पिशाचवत्) पिशाच की भांति (अन्यार्थोपदेशे) शिष्य के प्रति उपदेश करने पर (अपि) अन्य समीपस्थ पुरुष को भी विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—उसी पुरुष को विवेकज्ञान होता है जिसको गुरु उपदेश करता है परन्तु समीपवर्त्ती पुरुष को भी आत्मज्ञान होसक्ता है

जैसाकि शिवजी ने पार्वती को उपदेश किया और उसके समीपस्थ पिशाच नामक भृत्य को भी विवेकज्ञान होगया ।

सं०—ननु, यदि एकवार उपदेश करने पर विवेकज्ञान न हो तो फिर क्या करे ? उत्तरः—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । ३ ।

पद०—आवृत्तिः । असकृदुपदेशात् ।

पदा०—(असकृदुपदेशात्) अनेकवार उपदेश पाएजाने से (आवृत्तिः) उपदेश की आवृत्ति करनी चाहिये ।

भाष्य—यदि एकवार उपदेश करने पर विवेकज्ञान की प्राप्ति न हो तो उसकी वार २ आवृत्ति करनी चाहिये जैसाकि छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक में श्वेतकेतु को सातवार पिता का उपदेश पाया जाता है, इसका विशेष विस्तार वेदान्तार्य्यभाष्यभूमिका में है ।

सं०—ननु, पुत्र के प्रति पिता अनेकवार उपदेश करसक्ता है शिष्य के प्रति नहीं ? उत्तरः—

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् । ४ ।

पद०—पितापुत्रवत् । उभयोः । दृष्टत्वात् ।

पदा०—(उभयोः) गुरुशिष्य का सम्बन्ध (पितापुत्रवत्) पिता-पुत्र की भांति होता है (दृष्टत्वात्) लोक में देखेजाने से ।

भाष्य—यह बात लोक प्रसिद्ध है कि गुरु पितावत् होता है इस-लिये शिष्य के प्रति गुरु का अनेकवार उपदेश होसक्ता है अयुक्त नहीं ।

सं०—ननु, जब विवेकज्ञान होजाय तब उसकी दृढ़ता के लिये क्या करना चाहिये ? उत्तर :—

श्येनवत्सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ।५।

पद०—श्येनवत् । सुखदुःखी । त्यागवियोगाभ्याम् ।

पदा०—(श्येनवत्) श्येन = बाज की भांति (त्यागवियोगाभ्याम्) त्याग तथा वियोग से (सुखदुःखी) सुखी, दुःखी होता है ।

भाष्य—जिसप्रकार बाजपक्षी को मांस के लोभ से अन्य पक्षी मारते हैं और वह जब मांस का त्याग कर देता है तब सुखी होता है और मांस के स्वयं नष्ट होजाने से दुःखी होता है इसी प्रकार विषयों का त्याग वियोग सुखदुःख का हेतु है, ऐसा जानकर पुरुष को सर्वथा विषयों का स्वयं त्याग करना उचित है, यही विवेकज्ञान की दृढ़ता के लिये कर्त्तव्य है ।

सं०—ननु, विषयों का त्याग स्वयं कैसे होसक्ता है ? उत्तर :—

अहिनिर्ल्वयनीवत् ।६।

पद०—एकपद ।

पदा०—(अहिनिर्ल्वयनीवत्) सांप की केचुली की भांति विषयों का स्वयं त्याग होसक्ता है ।

भाष्य—जिसप्रकार सांप जीर्ण हुई त्वचा को आयास के बिना ही त्यागदेता है इसी प्रकार विवेकी पुरुष विषयों को हेय समझकर त्यागदे ।

सं०—अब विषय परित्याग का अन्य प्रकार कथन करते हैं :—

छिन्नहस्तवद्वा ।७।

पद०—छिन्नहस्तवत् । वा ।

पदा०—(वा) अथवा (छिन्नहस्तवत्) छिन्नहस्त की भांति विषयों का त्याग करना चाहिये ।

भाष्य–जिस प्रकार पुरुष अति दोष युक्त अङ्ग को दुःख का कारण जानकर स्वयं कटवा देता है इसी प्रकार विषयों का भी त्याग आवश्यक है ।

सं०–ननु, मन अति चंचल होने के कारण अवलम्ब से विना नहीं रहसक्ता इसलिये यदि किसी ऐसे विषय का अवलम्ब रखले जिसका चिन्तन उसको विषय परायण न करे तो ऐसे अनुचिन्तन से क्या हानि ? उत्तर :–

असाधनानुचिन्तनंबन्धायभरतवत् । ८ ।

पद०–असाधनानुचिन्तनं । बन्धाय । भरतवत् ।

पदा०–(असाधनानुचिन्तनं) जो पदार्थ शब्द स्पर्शादि विषयों के साधन नहीं हैं उनका राग भी (भरतवत्) राजर्षि भरत की भांति (बन्धाय) बन्ध का हेतु होता है ।

भाष्य–राजर्षि भरत ने हरिणी के बच्चे का पालन करने के कारण विषयों के असाधनभूत पदार्थ के सम्बन्ध से भी अन्य जन्मों को धारण किया, इसलिये मुमुक्षुपुरुष किसी पदार्थ में भी राग न करे ।

सं०–ननु, विषय चिन्तन छोड़कर चित्त के अवलम्बनार्थ बहुतों की सङ्गति में रहे तो क्या दोष ? उत्तर :—

बहुभिर्योगेविरोधोरागादिभिः कुमारीशंखवत् । ९ ।

पद०–बहुभिः । योगे । विरोधः । रागादिभिः । कुमारीशंखवत् ।

पदा०–(कुमारीशंखवत्) कुमारी के कंकण की भांति (बहुभिः, योगे) बहुतों के साथ मिलकर रहने में (रागादिभिः) रागादि दोषों के कारण (विरोधः) विरोध होता है ।

भाष्य–इसमें दृष्टान्त इसप्रकार है कि कोई कुमारी धान कूटने या किसी ऐसे काम में लगी हुई थी कि जिसमें उसकी चूड़ियों का शब्द होता था, उस लड़की ने अपने श्वसुरालय से आए हुए पुरुष के सुनने के भय से अपने हाथकी चूड़ियों को त्यागकर एक २ रखली कि यह शब्द न करें इसीप्रकार एकाकी मुमुक्षुपुरुष रागद्वेषरूप विरोध से रहित होता है।

सं०–ननु, बहुतों के साथ मिलकर रहने में दोष हो यदि दो मिलकर रहें तो क्या हानि? उत्तर :–

द्वाभ्यामपितथैव। १०।

पद०–द्वाभ्याम्। अपि। तथा। एव।

पदा०–(द्वाभ्याम्) दोके साथमें (अपि) भी (तथा, एव) वही उक्तदोष है।

सं०–ननु, फिर क्या करना चाहिये? उत्तर :–

निराशःसुखीपिङ्गलावत्। ११।

पद०–निराशः। सुखी। पिङ्गलावत्।

पदा०–(पिङ्गलावत्) पिङ्गलाकीभांति (निराशः) सर्व आशाओं से रहित हुआ सुखी होता है।

भाष्य–आशा सर्व दुःखों का मूल है, जिसप्रकार पिङ्गला आशा से रहित होकर सुख को प्राप्त हुई इसीप्रकार विवेकी पुरुष को आशा का त्याग करना आवश्यक है।

सं०–ननु, एकाकीपुरुष गृहादि का आरम्भ न करने से दुःखी होगा? उत्तर :–

अनारम्भेपिपरगृहेसुखीसर्पवत्। १२।

पद०—अनारम्भे । अपि । परगृहे । सुखी । सर्पवत् ।

पदा०—(सर्पवत्) सर्पकीभांति (अनारम्भे, अपि) गृहारम्भ न करने पर भी (परगृहे) दूसरों के गृह में बास करने से सुखी होता है ।

भाष्य—गृहारम्भ से अनेकदुःख होते हैं इसलिये मुमुक्षुपुरुष को सर्प की भांति यथाप्राप्त स्थान में बास करने से सुख की प्राप्ति होतीहै। इन सूत्रों में यह कर्तव्य संन्यासी का वर्णन किया गया है क्योंकि वशीकारसंज्ञकवैराग्य जिसका वर्णन यो० १ । १५ सूत्र में है और परवैराग्य जिसका वर्णन यो० १ । १६ में है, जबतक यह दोनों प्रकार का वैराग्य नहो तबतक पुरुष को मुक्ति के साधन विवेक की उत्पत्ति नहीं हो सक्ती, इस अभिप्राय से यहां सब आशाओं का त्याग और सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कथन कियागया है ।

सं०—अब शास्त्रों के सार ग्रहण की रीति कथन करते हैः—

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपिसारादानं षट्पदवत् ।१३।

पद०—बहुशास्त्रगुरूपासने । अपि । सारादानं । षट्पदवत् ।

पदा०—(षट्पदवत्) भ्रमरकी भांति (बहुशास्त्रगुरूपासने) अनेक शास्त्राध्ययन और गुरुसेवा करते हुए (अपि) भी (सारादानं) सारग्राही होना आवश्यक है ।

भाष्य—जिसप्रकार भ्रमर अनेक प्रकार के पुष्पों का मकरन्द पान करता हुआ पुष्प की श्वेतता वा रक्तता का ध्यान नहीं करता इसीप्रकार पुरुष अन्य बातों को छोड़ता हुआ सर्वशास्त्रों से विवेक ज्ञान के उपयोगी अर्थ का ग्रहण करे ।

सं०—ननु, संसार में अनेकप्रकार के मनुष्यों का संघट बने रहने

से सारग्राही होनेपरभी विवेकीपुरुष की समाधि स्थिर नहीं होसक्ती ? उत्तर :—

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः । १४ ।

पद०—इषुकारवत् । न । एकचित्तस्य । समाधिहानिः ।

पदा०—(इषुकारवत्) इषुकार की भांति (एकचित्तस्य) एकाग्रचित्तविवेकी की (समाधिहानिः) समाधि का भङ्ग (न) नहीं होता ।

भाष्य—जिसप्रकार इषुकार = बाणों के बनानेवाले के चित्तको दोनों ओर जाती हुई राजसेना का शब्द चलायमान नहीं करसका इसी प्रकार एकाग्रचित्त वाले विवेकीपुरुष की समाधि को कोई दोष चलायमान नहीं करसक्ता ।

सं०—अब शास्त्र के नियम त्याग से अनर्थप्राप्ति कथन करते हैं:—

कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यंलोकवत् । १५ ।

पद०—कृतनियमलङ्घनात् । आनर्थक्यं । लोकवत् ।

पदा०—(लोकवत्) लोक में रोगी की भांति (कृतनियमलङ्घनात्) शास्त्र नियम का उलङ्घन करने से (आनर्थक्यं) अनर्थ की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र के नियम पर न चलने से रोगी को अनर्थ होता है इसी प्रकार समाधि की स्थिरता के साधनों का त्याग करने से विवेकी पुरुष को समाधि भङ्गरूप अनर्थ की प्राप्ति होती है ।

सं०—ननु, यदि किसी कारण से बीच में समाधि के नियम विस्मरण होने पर क्या दोष ? उत्तर :—

तद्विस्मरणेऽपिभेकीवत् । १६ ।

पद०—तद्विस्मरणे । अपि । भेकीवत् ।

पदा०—(भेकीवत्) भेकी की भांति (तद्विस्मरणे) नियम के विस्मरण होने पर (अपि) भी अनर्थ की प्राप्ति होती है ।

भाष्य—जिस प्रकार एक राजा की भेकी नामक कन्या ने विवाह के समय अपने पति से यह नियम किया कि यदि आप मुझसे वियोग करेंगे तो फिर मेरा आप का सम्बन्ध न रहेगा अर्थात् सर्वदा काल के लिये मैं आपसे वियुक्त रहुंगी, एक समय राजा इस नियम को भूलकर बाहर चला गया तब राजा को भेकी का वियोगरूप अनर्थ प्राप्त हुआ, इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष को भूल से नियम का विस्मरण करना भी अनर्थ का हेतु है ।

सं०—यहां तक विवेकी का कर्त्तव्य कथन किया, अब परामर्श से बिना श्रवण की अपूर्णता कथन करते हैं :—

नोपदेशश्रवणेऽपिकृतकृत्यतापरामर्शादृते विरोचनवत् । १७ ।

पद०—न । उपदेशश्रवणे । अपि । कृतकृत्यता । परामर्शात् । ऋते । विरोचनवत् ।

पदा०—(विरोचनवत्) विरोचन की भांति (परामर्शात् ऋते) मनन के बिना (उपदेशश्रवणे) उपदेश श्रवण से (अपि) भी (कृतकृत्यता) ज्ञान की पूर्णता (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य—जिसप्रकार प्रजापति के उपदेश करने पर श्रवणमात्र से विरोचन को पूर्णज्ञान नहीं हुआ इसीप्रकार मनन के विना केवल श्रवणमात्र से पुरुष को पूर्ण ज्ञान नहीं होता, इसलिये श्रवण के अनन्तर मनन करना आवश्यक है ।

सं०–अब मनन द्वारा कृतकृत्यता का उदाहरण देते हैं :—

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य । १८ ।

पद०–दृष्टः । तयोः । इन्द्रस्य ।

पदा०–(तयोः) इन्द्र तथा विरोचन के मध्य (इन्द्रस्य) इन्द्र का मनन (दृष्टः) उपनिषदों में पाया जाता है ।

भाष्य–इन्द्र और विरोचन दोनों प्रजापतिगुरु के पास विवेक के लिये गए इन्द्र ने श्रवण के पश्चात् मनन किया इसकारण उसको यथार्थज्ञान हुआ और विरोचन ने मनन नहीं किया इसकारण उसको विपरीतज्ञान हुआ ।

सं०–अब परामर्श से शीघ्र ही विवेकज्ञान न होने का कारण कथन करते हैं :—

प्रणतिब्रह्मचर्य्योपसर्पणानिकृत्वासिद्धि-र्बहुकालात् तद्वत् । १९ ।

पद०–प्रणतिब्रह्मचर्य्योपसर्पणानि । कृत्वा । सिद्धिः । बहुकालात् । तद्वत् ।

पदा०–(तद्वत्) इन्द्रकी भांति (प्रणतिब्रह्मचर्य्योपसर्पणानि) प्रणति, ब्रह्मचर्य्य और उपसर्पण (कृत्वा) करके (बहुकालात्) बहुतकाल पश्चात् (सिद्धिः) विवेकज्ञान की सिद्धि होती है ।

भाष्य–नमस्कार का नाम "प्रणति" इन्द्रियसंयम द्वारा वेदाध्ययन का नाम "ब्रह्मचर्य्य" और श्रद्धाभक्ति सहित विधिपूर्वक गुरु के समीप जाने का नाम "उपसर्पण" है, इनके अनुष्ठान द्वारा चिरकाल पश्चात् श्रवण तथा मनन करने से विवेकज्ञान की सिद्धि होती है जैसाकि इन्द्र ने किया ।

इस सूत्र में ब्रह्मचर्य्य शब्द से यह भी सूचित करदिया कि आस्तिक को ही विवेकज्ञान की सिद्धि होती है नास्तिक को नहीं क्योंकि ब्रह्मचर्य्य के अर्थ इन्द्रियसंयमद्वारा वेदाध्यान के हैं जो नास्तिक को अभीष्ट नहीं क्योंकि वह ईश्वर को नहीं मानता इसी अभिप्राय से यहां विरोचन का दृष्टान्त दिया गया है कि विरोचन को विवेक इसलिये नहीं हुआ कि वह नास्तिक था, इस लेख ने इस बातको स्पष्ट करादिया कि सांख्य दर्शन आस्तिक दर्शन है। यदि सांख्यशास्त्र के कर्त्ता महर्षि कपिल को ईश्वर की सिद्धि अभीष्ट न होती तो आस्तिक इन्द्र की कृतकृत्यता और विरोचन के यत्न की निष्फलता न दर्शाते, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होगया कि "ईश्वरासिद्धेः" इत्यादि सूत्रों को जो लोग नास्तिक पक्ष में लगाते हैं वह सांख्यशास्त्र के अभिप्राय से सर्वथा विपरीत करते हैं।

सं०—अब विवेकज्ञान की असिद्धि में काल का अनियम कथन करते हैं :-

न कालनियमो वामदेववत्। २०।

पद०—न। कालनियमः। वामदेववत।

पदा०—(वामदेववत) वामदेवकी भांति (कालनियमः) विवेक-ज्ञान की सिद्धि में काल का नियम (न) नहीं।

भाष्य—पूर्वजन्म के संस्कारों के बल से वामदेव को छोटी आयु में ही विवेकज्ञान हुआ, अतएव विवेकज्ञान की सिद्धि में काल का नियम नहीं।

सं०—ननु, गुरूपदेश के श्रवणानन्तर तत्काल ही विवेकज्ञान होना चाहिये ? उत्तर :-

अध्यस्तरूपोपासनात्पारंपर्य्येणयज्ञो पासकानामिव । २१ ।

पद०-अध्यस्तरूपोपासनात्। पारंपर्य्येण। यज्ञोपासकानाम्। इव।

पदा०-(यज्ञोपासकानाम्, इव) याज्ञिक लोकों के अदृष्ट से फलसिद्धि की भांति (अध्यस्तरूपोपासनात्, पारंपर्य्येण) श्रद्धा भक्तिद्वारा गुरुकृत उपदेश के अनुष्ठान पूर्वक ध्यानादि की परम्परा से विवेकज्ञान की सिद्धि होती है।

भाष्य-गुरुद्वारा उपदेश किये हुए अर्थ का नाम यहां "अध्यास" इसलिये है कि वह अर्थ परोक्ष है इसलिये प्रथम मुमुक्षु उसको श्रद्धा से स्थिर कर लेता है अर्थात् अपने हृदय में उसकी सत्यरूप से कल्पना कर लेता है इस अभिप्राय से यहां अध्यास शब्द आया है मिथ्या के अभिप्राय से नहीं।

गुरु के उपदेश के अनन्तर तत्काल ही विवेकज्ञान नहीं होता, उसके होने में यह क्रम है कि प्रथम श्रवण फिर मनन, मनन के अनन्तर निदिध्यासन और फिर उसका अङ्गभूत समाधि, फिर सम्प्रज्ञात, फिर आत्मसाक्षात्काररूपऋतम्भराप्रज्ञा और उसके पश्चात् प्रकृति पुरुष के भेद का साक्षात्काररूप विवेकज्ञान होता है।

सं०-ननु, यज्ञकर्मों के अनुष्ठानद्वारा उत्तमजन्म की प्राप्ति में ही सन्तोष करना चाहिये कठिन यत्न साध्य मुक्ति से क्या लाभ? उत्तरः—

इतरलाभेऽप्यावृत्तिःपञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः । २२ ।

पद०-इतरलाभे। अपि। आवृत्तिः। पञ्चाग्नियोगतः। जन्मश्रुतेः।

पदा०-(पञ्चाग्नियोगतः)पञ्चाग्निविद्याद्वारा (जन्मश्रुतेः) जन्म के पाए जाने से (इतरलाभे,अपि) यज्ञादिकर्मों से उच्चजन्म की प्राप्ति होने पर भी (आवृत्तिः) बारम्बार श्रवणमननादिकों का अभ्यास करना पड़ता है इसलिये मुक्ति का यत्न करना आवश्यक है।

सं०-अब उक्त विवेकी पुरुष के लिये संसार की निवृत्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति कथन करते हैं:-

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् । २३ ।

पद०-विरक्तस्य । हेयहानम् । उपादेयोपादानम् । हंसक्षीरवत् ।

पदा०-(हंसक्षीरवत्) हंसक्षीर की भांति (विरक्तस्य) इस लोक तथा परलोक के विषयों से विरक्त पुरुष को (हेयहानम्) संसार की निवृत्ति तथा (उपादेयोपादानम्) मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भाष्य-जिस प्रकार हंस अपनी चोंच से क्षीर नीर को पृथक् करके क्षीर का ग्रहण तथा नीर का त्याग कर देता है इसी प्रकार विरक्त पुरुष को भी संसार की निवृत्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सं०-ननु, यदि संसार की निवृत्ति तथा मोक्षकी प्राप्ति विरक्त को ही होती है तो सत्सङ्ग करना व्यर्थ है ? उत्तर :-

लब्धातिशययोगाद्वातद्वत् । २४ ।

पद०-लब्धातिशययोगात् । वा । तद्वत् ।

पदा०-(तद्वत्) विरक्त की भांति (वा) अथवा (लब्धातिशययोगात्) विवेकीपुरुष के सङ्ग से भी संसार की निवृत्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

भाष्य-विवेकज्ञान की सीमा को प्राप्त होने से विवेकी पुरुष

को "लब्धातिशय" कहते हैं, उसके सङ्ग से पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सं०—ननु, विवेकी पुरुष के सङ्ग से रागी पुरुष को भी मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिये? उत्तर :—

नकामचारित्वंरागोपहते शुकवत्। २५।

पद०—न। कामचारित्वम्। रागोपहते। शुकवत्।

पदा०—(शुकवत्) शुक की भांति (रागोपहते) रागी पुरुष में (कामचारित्वम्) स्वतन्त्रता नहीं हो सक्ती।

भाष्य—जिस प्रकार रागयुक्त होने से शुक=सुआ स्वतन्त्र नहीं हो सक्ता इसी प्रकार विषयी पुरुष विषयों के राग से संसारकी निवृत्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति में स्वतन्त्र नहीं हो सक्ता अर्थात् जब तक विषयों में राग की निवृत्ति नहीं होती तब तक विवेकी के सङ्ग से भी विषयी पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकृती।

सं०—अब विषयों के राग से बन्धन का कथन करते हैं :—

गुणयोगाद्बद्धःशुकवत्। २६।

पद०—गुणयोगात्। बद्धः। शुकवत्।

पदा०—(शुकवत्) शुक की भांति (गुणयोगात्) रज्जू के सम्बन्ध से (बद्धः) पुरुष बद्ध होता है।

भाष्य—जिस प्रकार शुक रज्जु द्वारा बन्धन में आजाता है इसी प्रकार विषयों में रागबुद्धि करने वाला पुरुष बन्धन में आजाता है :—

सं०—ननु, भोग से राग की निवृत्ति होने पर रागी पुरुष को भी वैराग्य होना चाहिये? उत्तर :—

नभोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत्। २७।

पद०—न । भोगात् । रागशान्तिः । मुनिवत् ।

पदा०—(मुनिवत्) मुनि के समान (भोगात्) विषयभोग से (रागशान्तिः) राग की निवृत्ति (न) नहीं होती ।

भाष्य—सौभरिमुनि के राग की निवृत्ति विषय भोग से नहीं हुई इससे पाया जाता है कि विषयभोग राग निवृत्ति का कारण नहीं होसक्ता।

सं०—अब विषयों में राग निवृति का उपाय कथन करते हैं :—

दोषदर्शनादुभयोः । २८ ।

पद०—दोषदर्शनात् । उभयोः ।

पदा०—(उभयोः) प्रकृति तथा उसके कार्यों में (दोषदर्शनात्) दोषबुद्धि करने से राग की निवृत्ति होती है ।

सं०—ननु, केवल उपदेश से विवेकज्ञान होजायगा फिर विषयों में दोष बुद्धि का क्या प्रयोजन ? उत्तर :—

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहो-ऽजवत् । २९ ।

पद०—न । मलिनचेतसि । उपदेशबीजप्ररोहः । अजवत् ।

पदा०—(अजवत्) अज की भांति (मलिनचेतसि) मलिन-चित्त में (उपदेशबीजप्ररोहः, न) उपदेशरूप बीज नहीं उग सक्ता ।

भाष्य—जिस प्रकार वसिष्ठ के उपदेश करने पर भी राजा अज को विवेकज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, इसी प्रकार जबतक विषयों के राग से चित्त मलिन रहता है तबतक चित्त में विवेकज्ञान की स्थिरता नहीं होसक्ती अतएव केवल उपदेश विवेकज्ञान की स्थिरता का कारण नहीं अर्थात् परिणामित्वादि दोषों के भावन से विषयों में राग बुद्धि की निवृत्ति के अनन्तर उपदेश से विवेकज्ञान का लाभ होता है ।

सं०—ननु, मलिनचित्त में भी उपदेश का यत्किञ्चित्फल होसक्ता है ? उत्तर :—

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् । ३० ।

पद०—न । आभासमात्रम् । अपि । मलिनदर्पणवत् ।

पदा०—(मलिनदर्पणवत्) मलिनदर्पण की भांति (आभासमात्रम्) आभासमात्र (अपि) भी (न) उपदेश का फल नहीं होता ।

भाष्य—जैसे मलिनदर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब स्थिर नहीं होता इसीप्रकार मलिनचित्त में उपदेश भी स्थिर नहीं होता ।

सं०—ननु, तथापि गुरूपदेश निष्फल नहीं होना चाहिये? उत्तरः—

न तज्जस्यापि तद्रूपतापङ्कजवत् । ३१ ।

पद०—न । तज्जस्य । अपि । तद्रूपता । पङ्कजवत् ।

पदा०—(पङ्कजवत्) कमल की भांति (तज्जस्य) गुरूपदेश से होनेवाला ज्ञान (अपि) भी (तद्रूपता) उपदेशानुसार (न) नहीं होता ।

भाष्य—जैसे पङ्क से उत्पन्न होनेवाला कमल पङ्कदोष के कारण बीज का अनुसारी नहीं होता अर्थात् पङ्क के नाम से प्रसिद्ध होता है इसी प्रकार रागादि दोषों से दूषित हुए चित्तमें उत्पन्न हुआ ज्ञान भी गुरूपदेश के ज्ञान का अनुसारी नहीं होता ।

सं०—अणिमादि सिद्धियों से भी पुरुष कृतकृत्य नहीं होसक्ता, अब इस बात को स्पष्ट करते हैं :—

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धि-वदुपास्यसिद्धिवत् । ३२ ।

पद०—न । भूतियोगे । अपि । कृतकृत्यता । उपास्यसिद्धिवत् । उपास्यसिद्धिवत् ।

पदा०-(उपास्यासिद्धिवत) विवेकज्ञान की सिद्धि की भांति (भूतियोगे) अणिमादि सिद्धियों के प्राप्त होने पर (अपि) भी (कृतकृत्यता) सफलता (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य-" उपास्यासिद्धिवत् " दोवार अध्याय की समाप्ति के लिये आया है, उपास्य से यहां तात्पर्य्य विवेक का है, जिस प्रकार विवेक की सिद्धि से कृतकृत्यता होती है वह कृतकृत्यता अणिमादि सिद्धियों से नहीं होसक्ती । क्योंकि सिद्धियों में भी परिणामित्वादि दोष बने रहते हैं इसलिये विवेकज्ञान की तुलना अणिमादि सिद्धियें नहीं कर सक्तीं, इसलिये यहां विवेक का व्यतिरेकि दृष्टान्त दिया गया है ।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
सांख्यार्य्यभाष्ये
चतुर्थाध्यायः ।

ओ३म्

अथ पंचमाध्यायः प्रारभ्यते

सं०—पूर्व के चार अध्यायों में सांख्यसिद्धान्त को भले प्रकार निरूपण किया, अब इस अध्याय में उनकी दृढ़ता के लिये वेदविरोधि मतों का खण्डन करते हुए प्रथम मङ्गलकर्मों के अनुष्ठान में प्रमाण कथन करते हैं :—

मङ्गलाचरणंशिष्टाचारात्फलदर्शना च्छ्रुतितश्चेति । १ ।

पद०—मङ्गलाचरणम् । शिष्टाचारात् । फलदर्शनात् । श्रुतितः । च । इति ।

पदा०—(शिष्टाचारात्) शिष्टाचार (फलदर्शनात्) फलदर्शन (च) और (श्रुतितः) श्रुतिप्रमाणसे (मङ्गलाचरणं, इति) मङ्गल-कर्म्मों का अनुष्ठान करना चाहिये ।

भाष्य--वैदिककर्मों के अनुष्ठान का नाम "मङ्गलाचरण" है। उसके कर्त्तव्य में तीन प्रमाण हैं, प्रथम यह कि शिष्ट=आप्तपुरुषों ने उनकर्मों को किया है और आप्त पुरुषों का आचरण परोपकार के लिये होता है इसलिये वह कर्त्तव्य है । दूसरे यह कि वैदिककर्मों के अनुष्ठान का अभ्युदय तथा निःश्रेयसरूपफल पायाजाता है जैसाकि "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिःसधर्मः" वैशे० १ । १ । २ =जिससे लोक सुख तथा मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है, और यह सिद्धि वैदिक कर्मों से होती है इसलिये वह कर्त्तव्य हैं । तीसरे

"कुर्वन्नेवेहकर्माणि" यजु० ४० । २ = उत्तम कर्मों को करता हुआ सौवर्ष तक जीवे, इत्यादि श्रुतियें भी वैदिककर्मों की कर्त्तव्यता सिद्ध करती हैं जिससे पुरुष का जीवन पवित्र होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है इसलिये मङ्गलाचरण का करना आवश्यक है ।

सं०–ननु, वैदिककर्मों के अनुष्ठान सेही फलसिद्धि होसक्ती है फिर कर्मफलदाता ईश्वर मानना व्यर्थ है ? उत्तर :–

न ईश्वराधिष्ठितेफलनिष्पत्तिःकर्मणा-तत्सिद्धेः । २ ।

पद०–न । ईश्वराधिष्ठिते । फलनिष्पत्तिः कर्मणा । तत्सिद्धेः ।

पदा०–(ईश्वराधिष्ठिते) ईश्वर के अधिष्ठाता होने पर ही (फल-निष्पत्तिः) फलकी सिद्धि होती है (कर्मणा) केवल कर्मद्वारा (न,तत्सिद्धेः) फल की सिद्धि (न) नहीं होने से ।

भाष्य–कर्म जड़ होने के कारण अधिष्ठाता के बिना स्वयं फल नहीं देसक्ते इसलिये कर्म फल दाता ईश्वर मानना आवश्यक है । भाव यह है कि जिस प्रकार लोक में शुभाशुभ कर्मों का फल देने वाला राजा होता है इसी प्रकार विहित और निषिद्ध कर्मों का फल दाता ईश्वर है । और जो कईएक टीकाकारों ने इस सूत्र के यह अर्थ किये हैं कि केवल कर्मों से फल की सिद्धि होती है ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं, यह इसलिये ठीक नहीं कि यदि कर्मफल दाता की आवश्यकता न होती तो लोक में कोई नियन्ता वा न्याय धीश न पायाजाता और इससे प्रथम सूत्र में जो श्रुति से शुभकर्मों का विधान किया है, इससे भी पायाजाता है कि सांख्यकर्त्ता श्रुतिको मानता है अतएव निरीश्वर वादी नहीं ।

सं०–अब ईश्वर को कर्मों का अधिष्ठाता मानने में और हेतु कथन करते हैं :–

स्वोपकारादधिष्ठानंलोकवत् । ३ ।

पद०–स्वोपकारात् । अधिष्ठानं । लोकवत् ।

पदा०–(लोकवत्) लोक में राजा की भांति (स्वोपकारात्) जीवों पर उपकार करने से (अधिष्ठानं) ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता है ।

भाष्य–"तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहप्रयोजनम्" व्या० भा० १।२५ यद्यपि सृष्टि की रचना आदि में ईश्वर का अपना प्रयोजन नहीं तथापि जीवोंपर अनुग्रह करने के कारण वह सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होता है इसलिये केवल उपकारमात्र से जीवों के कर्मों का अधिष्ठाता है और जीवों पर उपकार करना ही उसके अधिष्ठातृत्व में हेतु है ।

सं०–ननु, यदि ईश्वर का जीवों पर उपकार पायाजाता है तो उसका अवश्य कोई अपना प्रयोजन होगा ? उत्तर :–

लौकिकेश्वरवदितरथा । ४ ।

पद०–लौकिकेश्वरवत् । इतरथा ।

पदा०–(इतरथा) यदि ईश्वर का अपना प्रयोजन मानाजाय तो (लौकिकेश्वरवत्) लौकिकराजा की भांति अपूर्णकाम होगा ।

भाष्य–जिस प्रकार प्रजापर उपकार करने से राजा का अपना प्रयोजन पायाजाता है अर्थात् प्रजा के उपकार से राजा अपनी अनेक प्रकार की कामनाओं की सिद्धि करता है इस प्रकार ईश्वर नहीं करता क्योंकि वह "पर्य्याप्तकाम" है, इसलिये केवल जीवों पर उपकार करना ही कर्मफलदातृत्व का प्रयोजन है ।

पारिभाषिको वा । ५ ।

पद०—पारिभाषिकः । वा ।

पदा०—(वा) यदि ईश्वर को आप्तकाम न मानाजाय तो वह (पारिभाषिकः) नाममात्र का ईश्वर होगा ।

भाष्य—भाव यह है कि जो आप्तकाम नहीं वह ईश्वर नहीं हो सक्ता, आप्तकाम होने से ही ईश्वर की ईश्वरता सिद्ध होसक्ती है अन्यथा नहीं ।

सं०—यदि यह माना भी जाय कि कर्मों के अधिष्ठाता से ही फल सिद्धि होती है फिर भी ईश्वर सिद्ध नहीं होसक्ता क्योंकि अधिष्ठाता बिना राग के नहीं होता, अब इस आशय से पूर्वपक्षी आशङ्का करता है :-

न रागादृतेतत्सिद्धिः प्रतिनियत-कारणत्वात् । ६ ।

पद०—न । रागात् । ऋते । तत्सिद्धिः । प्रतिनियतकारणत्वात् ।

पदा०—(प्रतिनियतकारणत्वात्) प्रवृत्तिमात्र में नियम से राग कारण होता है, इसलिये (रागात्, ऋते) राग के बिना (तत्सिद्धिः) ईश्वर के अधिष्ठातृत्व की सिद्धि (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य—लोक में देखाजाता है कि प्रवृत्तिमात्र में राग कारण होता है अर्थात् रागके विना पुरुष की किसी कार्य्य में प्रवृत्ति नहीं होसक्ती, इसी प्रकार ईश्वर के अधिष्ठाता होने में भी राग पाया जाता है अर्थात् राग के बिना ईश्वर कर्मों का फल दाता नहीं होसक्ता, और यदि ईश्वर में भी रागरूप दोष माना जाय तो वह जीव के समान होने से ईश्वर नहीं होसक्ता ।

सं०–अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं :–

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ।७।

पद०–तद्योगे । अपि । न । नित्यमुक्तः ।

पदा०–(तद्योगे) इच्छारूप राग के होने पर (अपि) भी (नित्यमुक्तः) नित्यमुक्त=ईश्वर (न) दूषित नहीं होसक्ता ।

भाष्य–राग, इच्छा यह पर्यायवाची शब्द हैं, यहां रागरूप दोष का प्रकरण होने से सूत्र में "दुष्यति" पद का अध्याहार किया गया है ।

भाव यह है कि पर्याप्तकाम होने से ईश्वर की इच्छा किसी स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु "**स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च**= उसकी इच्छादि शक्तियें स्वाभाविक हैं, इत्यादि उपनिषद् वाक्यों के अनुसार ईश्वर की इच्छा स्वाभाविक मानी गई है इसलिये उसके अधिष्ठातृत्व में कोई बाधा नहीं । और उसमें जीव के समान राग न होने से उसके ईश्वरत्व की भी हानि नहीं।

सं०–अब वादी फिर प्रकारान्तर से ईश्वर में दोष कथन करता है :–

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्संगापत्तिः । ८ ।

पद०–प्रधानशक्तियोगात् । चेत् । संगापत्तिः ।

पदा०–(चेत्) यदि (प्रधानशक्तियोगात्) ईश्वर में प्रधान विषयक रागरूप शक्ति के योग से इच्छा मानी जाय तो (सङ्गापत्तिः) उसमें सङ्ग अर्थात् रागरूप दोष बना रहेगा ।

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्य्यम् । ९ ।

पद०—सत्तामात्रात् । चेत् । सर्वैश्वर्यम् ।

पदा०—(चेत्) यदि (सत्तामात्रात्) सत्तामात्र से इच्छा मानी जाय तो (सर्वैश्वर्यम्) सब को ईश्वर मानना पड़ेगा ।

सं०—अब उक्त दोषों का समाधान करते हैं :—

प्रमाणाभावान्नतत्सिद्धिः । १० ।

पद०—प्रमाणाभावात् । न । तत्सिद्धिः ।

पदा०—(प्रमाणाभावात्) प्रमाण के न होने से (तत्सिद्धिः) ईश्वर के रागयुक्त तथा पदार्थमात्र ईश्वर होने की सिद्धि (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य—प्रकृति के साथ योग होने से ईश्वर को रागी मानना ठीक नहीं क्योंकि उसके रागी होने में कोई प्रमाण नहीं पायाजाता अर्थात् जिन २ कारणों द्वारा प्रत्यक्ष होता है उन कारणों के न पाएजाने से प्रत्यक्ष नहीं और शब्द प्रमाण इसलिये नहीं कि शब्द प्रमाण से ईश्वर का प्रकृति के साथ योग=स्वस्वामिभावसम्बन्ध तो पायाजाता है परन्तु रागयुक्त होना नहीं पायाजाता । और सत्तामात्र के योग से पदार्थमात्र को ईश्वर मानना इसलिये ठीक नहीं कि जिसप्रकार व्यापक आकाश की सत्ता सम्पूर्ण स्थानों में पाई जाती है परन्तु व्याप्य घटादिपदार्थ आकाशरूप नहीं होसक्ते, इसी प्रकार व्यापकभाव से ईश्वर की सत्ता सब स्थानों में पाएजाने पर भी व्याप्य वस्तु ईश्वर नहीं होसक्ता ।

सं०—ननु, "ईश्वरो रागदोषदूषितः प्रयोजनवत्त्वात् जीववत्=जीव की भांति प्रयोजन पाए जाने से ईश्वर रागदोष युक्त है, इस प्रकार अनुमानप्रमाण द्वारा उसका रागी होना पाया जाता है ? उत्तरः—

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् । ११ ।

पद०—सम्बन्धाभावात् । न । अनुमानम् ।

पदा०—(सम्बन्धाभावात्) सम्बन्ध न होने से (अनुमानम्) अनुमान प्रमाण भी (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—प्रयोजनवत्त्व हेतु से ईश्वर में रागदोष की सिद्धि मानना ठीक नहीं क्योंकि स्वप्रयोजनरूप लिङ्ग के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं पायाजाता अर्थात् पर्याप्तकाम होने से उसमें अपनी कामनारूप प्रयोजन का भी सम्बन्ध नहीं इसलिये उसको जीव के समान रागी मानना नहीं बन सक्ता एवं वादी का बनाया हुआ अनुमान हेत्वसिद्धिरूपदोषयुक्त होने से हेत्वाभास है और उस में "अपर्याप्तकामत्व" उपाधि है, इसलिये भी वह ठीक नहीं ।

सं०—ननु, प्रकृति के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से ईश्वर जगत्कर्त्ता है इस विषय में भी कोई प्रमाण नहीं पाया जाता? उत्तर :—

श्रुतिरपिप्रधानकार्य्यत्वस्य । १२ ।

पद०—श्रुतिः । अपि । प्रधानकार्य्यत्वस्य ।

पदा०—(प्रधानकार्य्यत्वस्य) प्रकृति का कार्य ईश्वराधीन है इस विषय में (श्रुतिः, अपि) श्रुति भी प्रमाण है ।

भाष्य—"स भूमिञ्जनयन्देव एकः" यजु० १७ । १९ "स्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किञ्चिन्नास" ऋ०१०। १२९; इत्यादि श्रुतियों में स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है कि प्रकृति का कार्याकार होना ईश्वराधीन है स्वतन्त्र नहीं, इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ईश्वर अपनी प्रकृतिरूपशक्ति से जगत् को उत्पन्न करता है तथा वह निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान

कारण है, जो अपनी शक्ति से कार्य को उत्पन्न करे और अपने स्वरूप में किसी विकृति को धारण न करे वह "**निमित्त**" और जो अपने अवयवों से कार्य को बनाए वह "**उपादान**" कारण होता है। और "अपि" शब्द से यह सूचन किया है कि कर्त्ता के बिना कार्य नहीं होसक्ता, इस प्रकार इस विषय में तर्क प्रमाण भी है।

ननु–ईश्वर का वर्णन पीछे कई वार कर चुके हैं इसलिये यहां ईश्वर सिद्धि का प्रकरण पुनरुक्ति दोष दूषित है? उत्तर :—पूर्व स्थलों में प्रसङ्ग सङ्गति तथा स्वरूप कथन के अभिप्राय से ईश्वर का निरूपण किया है और यहां ईश्वर के बिना कर्मफल की सर्वथा अनुपपत्ति दिखलाकर बलपूर्वक उसका मण्डन किया गया है इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं।

सं०–ननु, विज्ञानस्वरूपब्रह्म अविद्या सम्बन्ध से ईश्वर होसक्ता है फिर नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ईश्वर मानने की क्या आवश्यकता है? उत्तर :–

नाविद्याशक्तियोगो निःसंगस्य । १३ ।

पद०–न । अविद्याशक्तियोगः । निःसंगस्य ।

पदा०–(निःसंगस्य) असङ्ग ब्रह्म के साथ (अविद्याशक्तियोगः) अविद्या की शक्ति का योग (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य–आधुनिक वेदान्ती सत् असत् से विलक्षण अनिर्वचनीयशक्ति को "**माया**" मानते हैं, माया, अविद्या, अज्ञान, यह उनके मतमें पर्यायवाची शब्द हैं। यदि ब्रह्म का माया के साथ सम्बन्ध माना जाय तो वह नित्य शुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव नहीं रहता, अतएव ब्रह्म का माया के साथ योग न होने से आधुनिक वेदान्तियोंका मायोपहित वा मायाविशिष्ट ब्रह्म ईश्वर नहीं होसक्ता। इसका विशेष विस्तार वेदान्तार्य्यभाष्य में किया गया है।

सं०–ननु, हमारे मत में ब्रह्म का अविद्या के साथ आविद्यक सम्बन्ध है पारमार्थिक नहीं इसलिये उक्त दोष नहीं आता?उत्तर:–

तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् । १४ ।

पद०–तद्योगे । तत्सिद्धौ । अन्योऽन्याश्रयत्वम् ।

पदा०–(तद्योगे) अविद्या का योग सिद्ध होने पर (तत्सिद्धौ) अविद्या की सिद्धि में (अन्योऽन्याश्रयत्वम्) अन्योऽन्याश्रय दोष आता है ।

भाष्य–आधुनिक वेदान्तियों की मानी हुई अविद्या इसलिये ठीक नहीं कि अविद्या को अपनी सिद्धि के लिये आविद्यकसम्बन्ध और आविद्यकसम्बन्ध को अपनी सिद्धि के लिये अविद्या की अपेक्षा है, इस प्रकार परस्पर अपेक्षारूप अन्योऽन्याश्रय दोष होने से ब्रह्म के साथ अविद्या के योग को आविद्यक सिद्ध करना युक्ति शून्य होने से सर्वथा अप्रमाण है ।

सं०–ननु,वीजाङ्कुर न्याय के समान अविद्या तथा उसका सम्बन्ध अनादि है इसलिये अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता ? उत्तर :–

न बीजाङ्कुरवत्सादिसंसारश्रुतेः ।१५।

पद०–न । बीजाङ्कुरवत् । सादिसंसारश्रुतेः ।

पदा०–(सादिसंसारश्रुतेः) संसार का आदि पाए जाने से (बीजाङ्कुरवत) वीजाङ्कुरन्याय की भांति (न) अविद्या तथा उस का सम्बन्ध अनादि नहीं होसक्ता ।

भाष्य–बीजाङ्कुरन्याय के दृष्टान्त मे अविद्या तथा उसके सम्बन्ध को अनादि मानकर अन्योन्याश्रय दोप की निवृत्ति नहीं होसक्ती

क्योंकि तुम्हारे मत में जगत् को सादि माना गया है । और एक ब्रह्म से उत्पत्ति मानने वालों के मत में जगत् प्रवाहरूप से अनादि मानना भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होने पर फिर उस शुद्ध ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति मानीजाय तब प्रवाह-रूप से जगत् का अनादि होना सिद्ध होसक्ता है और ऐसा मानने से आप के मत में अपसिद्धान्त की प्राप्ति होगी इसलिये अन्योन्याश्रय दोष मानना ही युक्त है ।

सं०–अब अनिर्वचनीय अविद्यावादी के मत में और दोष कहते हैं:–

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः । १६ ।

पद०–विद्यातः । अन्यत्वे । ब्रह्मबाधप्रसङ्गः ।

पदा०–(विद्यातः) विद्या से (अन्यत्वे) भिन्न मानने पर (ब्रह्मबा-धप्रसङ्गः) ब्रह्म का बाध होगा ।

भाष्य–जिस प्रकार विद्या से भिन्न अविद्या की विद्याद्वारा निवृत्ति मानी गई है इसी प्रकार तुम्हारे मत में ब्रह्म का भी बाध होगा क्योंकि वह भी विद्या से भिन्न है ।

सं०–अब और दोष कहते हैं ।

अबाधे नैष्फल्यम् । १७ ।

पद०–अबाधे । नैष्फल्यम् ।

पदा०–(अबाधे) बाध न होने पर (नैष्फल्यम्) अविद्या का मानना निष्फल है ।

भाष्य–यदि "विद्यान्यत्व" अर्थात् विद्या से भिन्न होने पर भी ब्रह्म की विद्या से निवृत्ति नहीं होसक्ती तो उसका विद्यात्व ही निष्फल है, भाव यह है कि ब्रह्म और विद्या में विद्यान्यत्व के समान

पाए जाने पर भी यदि विद्या ब्रह्म का बाध नहीं कर सक्ती तो उस से अविद्या की भी निवृत्ति नहीं होगी ।

सं०-ननु, हमारे मत में अविद्या का लक्षण "विद्यान्यत्व" नहीं किन्तु "विद्यावाध्यत्व" है, इसलिये उक्त दोष नहीं आता? उत्तरः-

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् । १८ ।

पद०-विद्याबाध्यत्वे । जगतः । अपि । एवम् ।

पदा०-(विद्याबाध्यत्वे) विद्याबाध्यत्व होने पर (जगतः) जगत् को (अपि) भी (एवम्) अविद्यारूप मानना पड़ेगा ।

भाष्य-विद्या से जिसकी निवृत्ति हो उसको "विद्याबाध्यत्व" कहते हैं । यदि अविद्या का लक्षण "विद्याबाध्वत्व" किया जाय तो इस लक्षण की अतिव्याप्ति जगत् में होगी अर्थात् जिस प्रकार अविद्या में विद्याबाध्यत्व = विद्या से निवृत्त होना पायाजाता है इसी प्रकार विद्यावाध्यत्व के पाए जाने से जगत् भी अविद्यारूप होगा ।

सं०-ननु, हम जगत् को तो अविद्यारूप मानते ही हैं फिर क्या दोष? उत्तर :-

तद्रूपत्वे सादित्वम् । १९ ।

पद०-तद्रूपत्वे । सादित्वम् ।

पदा०-(तद्रूपत्वे) जगत् अविद्यारूप होने पर (सादित्वम्) अविद्या को अनादि मानना ठीक नहीं ।

भाष्य-भाव यह है कि आपके मत में अविद्या तथा जगत् के स्वरूप में भेद न होने से अविद्या भी सादि माननी पड़ेगी और यदि

उसको सादि मानाजाय तो तुम्हारे मत में अपसिद्धान्त दोष की प्राप्ति होगी ।

सं०—ननु, जन्म मरण के हेतुभूत धर्माधर्मरूप अदृष्ट की सिद्धि में कोई प्रमाण न होने से उनका अधिष्ठाता ईश्वर मानना व्यर्थ है ? उत्तर :–

न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ।२०।

पद०—न । धर्मापलापः । प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ।

पदा०—(प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात्) प्रकृति के कार्यों की विचित्रता पाए जाने से (धर्मापलापः) संसार के हेतु धर्मरूप अदृष्ट का छिपाना (न) नही होसक्ता ।

भाष्य—संसार में सुख दुःख तथा ऊंच नीचादि अनेकप्रकार की विचित्रता पाए जाने से प्रतीत होता है कि अवश्य कोई इसका निमित्त है अन्यथा सब संसार एकरूप से प्रतीत होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं, इससे सिद्ध होता है कि संसार की विचित्रता का हेतु धर्मरूप अदृष्ट है, इसी भाव को उदयनाचार्य्यजी इस प्रकार स्फुट करते हैं कि:–

सापेक्षत्वादनादित्वाद्वैचित्र्याद्विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद्भुक्तेरस्तिहेतुरलौकिकः ॥

अर्थ—सापेक्षत्वादि हेतुओं से प्रतीत होता है कि सृष्टि की विचित्र रचना का अवश्य कोई सहकारी निमित्तकारण है जिस को शास्त्र में "**अदृष्ट**" कहते हैं और वह जड़ होने के कारण अधिष्ठाता के विना स्वयं अनेक प्रकार के विचित्रतारूप फल को उत्पन्न नहीं कर सक्ता, भाव यह है कि धर्मादिक अदृष्ट संसार का हेतु न

होते तो सुख दुःख की विचित्रता भी न पाई जाती इसलिये धर्मरूपअदृष्ट का मानना युक्ति शून्य न होने से उसका अधिष्ठाता ईश्वर अवश्य मानना चाहिये ।

सं०–अब धर्मरूप अदृष्ट की सिद्धि में प्रमाण कहते हैं:—

श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः । २१ ।

पद०–श्रुतिलिङ्गादिभिः । तत्सिद्धिः ।

पदा०–(श्रुतिलिङ्गादिभिः) वेद और अनुमानादि प्रमाणों से (तत्सिद्धिः) धर्मरूप अदृष्ट की सिद्धि होती है ।

भाष्य–"ऋतंसत्यंतपोराष्ट्रंश्रमोधर्मश्चकर्म च" अथर्व० ११ । ४ । ९ । १७, इत्यादि मन्त्रों से स्पष्टतया धर्मरूपअदृष्ट की सिद्धि होती है, इसी आशय से "पुण्योवैपुण्येन कर्मणा भवति" बृह० ५ । २ । १३, इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में वर्णन किया है कि पुण्यकर्मों से उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है और वह पुण्यकर्म धर्मरूप अदृष्ट हैं । और अनुमान से धर्मरूप अदृष्ट की सिद्धि इसप्रकार मानी है कि "सुखभोगोऽदृष्टजन्योभोगत्वात्दुःखभोगवत् = दुःख के समान भोगरूप होने से सुखभोग शुभकर्मों से उत्पन्न होता है अर्थात् जो भोग होता है वह अवश्य कर्मजन्य होता है, अतएव सृष्टि की विचित्रता स्वाभाविक नहीं किन्तु अदृष्टरूपकर्मजन्य है और उसकी सिद्धि वेद तथा अनुमानादि प्रमाणों द्वारा होती है ।

सं०–ननु, अदृष्टों की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण न होने से उन का मानना ठीक नहीं ? उत्तर :–

न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् । २२ ।

पद०–न । नियमः । प्रमाणान्तरावकाशात् ।

पदा०-(प्रमाणान्तरावकाशात्) शब्द तथा अनुमानादि प्रमाणों के पाए जाने से (नियमः) वस्तु की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण का नियम (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य-अदृष्टों की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण न पाएजाने से यह नियम नहीं होसक्ता कि उन की सिद्धि में अन्य कोई प्रमाण नहीं किन्तु जिस वस्तु की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से न हो और उसकी सिद्धि में शब्दादि प्रमाणों का अवकाश पाया जाय वह भी अवश्य माननीय होता है और धर्मरूप अदृष्ट की सिद्धि में उक्तरीति से शब्द तथा अनुमान प्रमाण पाया जाता है इसलिये उसका मानना ठीक है ।

सं०-अब धर्मरूप अदृष्ट के समान अधर्मरूप अदृष्ट की सिद्धि का अतिदेश करते हैं :-

उभयत्राप्येवम् । २३ ।

पद०-उभयत्र । अपि । एवम् ।

पदा०-(उभयत्र, अपि) धर्म के समान अधर्म की सिद्धि में भी (एवम्) वेद तथा अनुमानादि प्रमाण हैं ।

भाष्य-" यदीदंमातुर्यदिवापितुर्नः परिभ्रातुःपुत्राच्चेतस एन आगन्" अथर्व० ६ । १२।११७। ३ = जो पाप माता पिता आदि सम्बन्धियों द्वारा हमको प्राप्त हुआ है उसको विद्वान् लोग अपने सत्सङ्ग से शान्त करें, इत्यादि वेदमंत्र अधर्मरूपअदृष्ट की सिद्धि में प्रमाण हैं, इसी आशय को "पापःपापेन" बृ० ५ । २ । १३ में इस प्रकार वर्णन किया है कि पापकर्मों से नीच लोकों की प्राप्ति होती है । और अनुमान से अधर्मरूपअदृष्ट की सिद्धि इसप्रकार मानी है कि "दुःखभोगोऽदृष्ट जन्यः, भोगत्वात् सुखभोगवत्=सुख के

समान भोगरूप होने से दुःखभोग अशुभ कर्मों से उत्पन्न होता है ।

सं०—ननु, धर्मसिद्धि के कथन से अधर्मसिद्धि का भी कथन होसक्ता है फिर उसका आतिदेश क्यों किया ? उत्तर :—

अर्थात्सिद्धिश्चेत्समानमुभयोः । २४ ।

पद०—अर्थात् । सिद्धिः । चेत् । समानम् । उभयोः ।

पदा०—(चेत्) यदि (अर्थात्, सिद्धिः) धर्मरूप अदृष्ट की सिद्धि के कथन से अधर्म की सिद्धि मानीजाय तो (उभयोः) दोनों में (समानम्) आक्षेप समान होगा ।

भाष्य—भाव यह है कि धर्म तथा अधर्म की सिद्धि में आक्षेप समान होने से उन दोनों की स्वतन्त्र सिद्धि शब्दादि प्रमाणों से होती है अर्थात् वह दोनों परस्पर सापेक्ष नहीं किन्तु भिन्न २ स्वतन्त्र पदार्थ हैं और उनकी सिद्धि में शब्दादि प्रमाण हैं ।

सं०—ननु, यदि धर्मादिक पुरुष के धर्म माने जायं तो उसमें परिणामित्वादि दोषों की प्राप्ति होगी ? उत्तर :—

अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् । २५ ।

पद०—अन्तःकरणधर्मत्वम् । धर्मादीनाम् ।

पदा०—(धर्मादीनाम्) धर्मादिक (अन्तःकरणधर्मत्वम्) अन्तः-करण के धर्म हैं ।

भाष्य—धर्म, अधर्म, सुख दुःख तथा राग द्वेषादिक, बुद्धि के धर्म हैं इसलिये पुरुष में परिणामित्वादि दोष नहीं होसक्ते अर्थात् स्वरूपभूत चैतन्य की भांति धर्मादिक पुरुष के धर्म नहीं किन्तु वह पुरुष में बुद्धि की उपाधि से प्रतीत होते हैं ।

सं०—ननु, विवेकज्ञानद्वारा धर्मादिकों की अत्यन्त निवृत्ति होने से सांख्यमत में सत्कार्यवाद नहीं घट सक्ता ? उत्तर :—

गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाधः । २६ ।

पद०–गुणादीनाम् । च । न । अत्यन्तबाधः ।

पदा०–(च) और (गुणादीनाम्) धर्मादिकों की (अत्यन्त-बाधः) अत्यन्त निवृत्ति (न) नहीं मानी ।

भाष्य–यद्यपि गुण शब्द का व्यवहार सत्त्वादि तीन गुणों में प्रसिद्ध है तथापि उपचार से धर्मादिकों का गुणशब्द से कथन किया है अर्थात् जिस प्रकार अग्नि के सम्बन्ध से लोहे में उष्णता आजाती है और वह अग्नि में सदा बनी रहती है इसी प्रकार बुद्धिके सम्बन्ध से पुरुष में प्रतीत होने वाले धर्मादिकों की विवेकज्ञान से निवृत्ति होजाती है परन्तु वह बुद्धि में बने रहते हैं और उनकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती अतएव सांख्यमत में सत्कार्यवादरूप सिद्धान्त की हानि नहीं होसक्ती ।

सं०–ननु, अन्यपुरुषनिष्ठ धर्मादिकों का ज्ञान किस प्रकार होता है ? उत्तर :–

पञ्चावयवयोगात्सुखसंवित्तिः । २७ ।

पद०–पञ्चावयवयोगात् । सुखसंवित्तिः ।

पदा०–(पञ्चावयवयोगात्) प्रतिज्ञादि पांच अवयवों से (सुख-संवित्तिः) धर्मादिकों का ज्ञान अनायास होता है ।

भाष्य–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, यह पञ्चा-वयव हैं । साध्यवाले पक्ष के निर्देश का नाम "प्रतिज्ञा" लिङ्ग के प्रतिपादक पञ्चम्यन्त वा तृतीयान्त वचन का नाम "हेतु" और व्याप्ति के प्रतिपादक वचन का नाम "उदाहरण" तथा व्याप्ति विशिष्ट हेतु प्रतिपादक वचन का नाम "उपनय" और हेतु तथा साध्यवाले पक्ष

के प्रतिपादक बचन का नाम **"निगमन"** है। इन पांच अवयवों द्वारा धर्माधर्मादि का अनुमान होता है। इनका विस्तारपूर्वक निरूपण वैशेषिकार्यभाष्य में किया है।

सं०—अब अनुमान के हेतुभूत व्याप्तिज्ञान का उपाय कथन करते हैं :—

नसकृद्ग्रहणात्सम्बन्धसिद्धिः । २८ ।

पद०—नसकृद्ग्रहणात् । सम्बन्धसिद्धिः ।

पदा०—(नसकृद्ग्रहणात्) अनेकवार सहचार ज्ञान से (सम्बन्धसिद्धिः) व्याप्तिज्ञान की सिद्धि होती है।

भाष्य—जब साध्य तथा साधन का सहचार ज्ञान अनेकवार होजाता है तब व्याप्ति का ज्ञान होता है अर्थात् जिस पुरुष ने धूम और अग्नि का अनेकवार सहचार देखा है उसको धूम और अग्निकी व्याप्ति का ज्ञान होता है। भाव यह है कि **"कारणसत्त्वेकार्यसत्त्वम्" "कारणाभावे कार्याभावः"** कारण के होने से कार्य होता है, और कारण के अभाव से कार्य्य का अभाव होता है, इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकद्वारा सहचार ज्ञान व्याप्ति ज्ञान का हेतु है।

सं०—अब व्याप्ति का लक्षण कथन करते हैं :—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः । २९ ।

पद०—नियतधर्मसाहित्यम् । उभयोः । एकतरस्य । वा । व्याप्तिः ।

पदा०—(उभयोः) साध्य और साधन के (वा) अथवा (एकतरस्य) एक के (नियतधर्मसाहित्यम्) अव्यभिचारी सम्बन्ध का नाम (व्याप्तिः) व्याप्ति है।

भाष्य—"यत्र धूमस्तत्र वन्हिः = जहां २ धूम होता है वहां अवश्य अग्नि होती है, इस प्रकार के "साहचर्यनियम" को "व्याप्ति" कहते हैं। इसीका नाम अविनाभाव सम्बन्ध वा अव्यभिचारी सम्बन्धहै। भाव यह हैकि जिन पदार्थों का परस्पर व्याप्यव्यापकभावसम्बन्ध पाया जाता है वह नियम से सहचारी होते हैं परन्तु कई एक पदार्थों का व्याप्यव्यापकभावसम्बन्ध समान तथा कई पदार्थों का विषम होता है, इस प्रकार सम तथा विषम भेद से व्याप्ति दो प्रकार की है जैसाकि जहां २ पृथिवी है वहां गन्ध है और जहां २ गन्ध है वहां पृथिवी है, इस प्रकार पृथिवी तथा गन्ध का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध समान है, और जहां २ धूम है वहां अग्नि होती है, परन्तु तप्त-लोहपिण्डादि में अग्नि के होने पर भी धूम नहीं होता, इसलिये धूम तथा अग्नि का व्याप्यव्यापकभावसम्बन्ध विषम है सम नहीं, इसी आशय से "उभयो" तथा "एकतरस्य" इन दोनों पदों का सूत्र में निवेश किया है। व्याप्ति का निरूपण वैशेषिकार्यभाष्य में भले प्रकार किया है विशेष जानने वाले वहां देखलें।

सं०—ननु, अव्यभिचारीसम्बन्ध को व्याप्ति क्यों माना जाय, कोई अन्य पदार्थ मानने में क्या दोष ? उत्तर :—

न तत्त्वान्तरंवस्तुकल्पनाप्रसक्तेः । ३० ।

पद०—न । तत्त्वान्तरम् । वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ।

पदा०—(वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः) अन्य वस्तु की कल्पना के गौरव से व्याप्ति (तत्त्वान्तरम्) अव्यभिचारी सम्बन्ध से भिन्न पदार्थ (न) नहीं।

भाष्य—भाव यह है कि धर्म कल्पना की अपेक्षा से धर्मी की

कल्पना में गौरव दोष होता है, इसलिये उक्त सम्बन्ध को व्याप्ति मानना ठीक है ।

सं०-ननु, किस प्रकार का अव्यभिचारी सम्बन्ध मानना चाहिये ? उत्तर :-

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः । ३१ ।

पद०-निजशक्त्युद्भवम् । इति । आचार्याः ।

पदा०-(निजशक्त्युद्भम्) वस्तु की स्वाभाविक शक्ति के आविर्भाव को (आचार्याः, इति) सांख्याचार्य अव्यभिचारी सम्बन्ध मानते हैं ।

भाष्य-सांख्याचार्यों की यह प्रक्रिया है कि जिन पदार्थों का परस्पर व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध होता है उनमें से व्याप्य की स्वाभाविक शक्ति के आविर्भाव का नाम अव्यभिचारी सम्बन्ध वा व्याप्ति है, जैसाकि धूम व्याप्य और अग्नि व्यापक है, इन दोनों में से व्यापक अग्नि का व्याप्य धूम एक प्रकार की शक्ति है और उसके आविर्भाव का नाम ही "**नियतधर्मसाहित्य**" वा "**अव्यभिचारिसम्बन्ध**" है । भाव यह है कि न्यून देश में होने वाले को "**व्याप्य**" तथा अधिक देश में होने वाले को "**व्यापक**" कहते हैं और उन दोनों के स्वाभाविक सम्बन्ध का नाम "**व्याप्ति**" है । यह सांख्याचार्य मानते हैं ।

सं०-अब व्याप्ति के स्वरूप में पञ्चशिखाचार्य का मत कथन करते हैं :—

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः । ३२ ।

पद०—आधेयशक्तियोगः । इति । पञ्चशिखः ।

पदा०—(आधेयशक्तियोगः) आधेयशक्ति के सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है (इति, पञ्चशिखः) यह पञ्चशिखाचार्य का मत है ।

भाष्य—पञ्चशिखाचार्य का मत यह है कि यह व्याप्य है और यह व्यापक है,इस प्रकार के सङ्केत से होनेवाली शक्ति का नाम "आधेय शक्ति" है, और उसक अव्यभिचारी सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं । भाव यह है कि जैसे अग्नि में धूम के रहने की शक्ति पाई जाती है इसी प्रकार आधार में आधेयशक्ति के सम्बन्ध का नाम "व्याप्ति" है । यह पञ्चशिखाचार्य्य मानते हैं ।

सं०—ननु, आधार की स्वरूप शक्ति को व्याप्ति मानना चाहिये, आधेयशक्ति के मानने में क्या प्रयोजन ? उत्तर :—

न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः । ३३ ।

पद०—न । स्वरूपशक्तिः । नियमः । पुनः । वादप्रसक्तेः ।

पदा०—(पुनः, वादप्रसक्तेः) पुनरुक्ति दोष होने से (स्वरूपशक्तिः) वस्तु की स्वरूपशक्ति (नियमः) व्याप्ति (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य—यदि अग्नि में धूम के रहने की शक्ति को अग्निरूप मानाजाय तो व्यापकेव्याप्यम् = अग्नि के साथ धूम प्रतिबद्ध = मिला रहता है, इस प्रकार पुनरुक्ति होगी क्योंकि जब धूम अग्निस्वरूप ही है तो अग्निवृत्ति = अग्नि में रहनेवाला धूम है यह कथन नहीं बनसक्ता, अतएव वस्तु की स्वरूपशक्ति व्याप्ति नहीं किन्तु आधेयशक्ति का अव्यभिचारी सम्बन्ध व्याप्ति है ।

सं०—अब उक्त पुनरुक्ति में हेतु कथन करते हैं :—

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः । ३४ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः) विशेषण के निरर्थक होने से पुनरुक्ति दोष आता है ।

भाष्य—जिस प्रकार शक्तोदेवदत्तः = देवदत्त शक्तिमान् है, इत्यादि स्थलों में शक्ति तथा शक्तिवाले को एक मानने से अर्थात् शक्ति को देवदत्त का स्वरूपभूत मानने से "शक्तः" यह विशेषण पुनरुक्त होने से निरर्थक होजाता है, इसी प्रकार व्याप्ति को आधार का स्वरूपभूत मानने से पुनरुक्ति होगी ।

भाव यह है कि "देवदत्त" पदके कथन करने से ही "शक्त" पदका लाभ होजाता है तो फिर "शक्त" पद का उच्चारण करना पुनरुक्ति दोष दूषित है, इसी प्रकार व्याप्यशक्ति के सम्बन्ध को व्यापक का स्वरूप मानने से "व्यापकेव्याप्यम्" में भी पुनरुक्ति होगी ।

सं०—अब स्वरूपशक्तिरूप व्याप्ति की असिद्धि में और हेतु कहते हैं:—

पल्लवादिष्वनुपपत्तेः ।३५।

पद०—पल्लवादिषु । अनुपपत्तेः ।

पदा०—(पल्लवादिषु) वृक्ष के पत्रादिकों में (अनुपपत्तेः) स्वरूपशक्तिरूपव्याप्ति की अनुपपत्ति पाईजाती है, इसलिये वह व्याप्ति नहीं होसक्ती ।

भाष्य—भाव यह है कि यदि व्याप्ति को स्वरूपशक्ति मानाजाय तो जिस प्रकार वृक्षों के साथ लगे हुए पत्रादिकों के देखने से वृक्ष का अनुमान होता है इसी प्रकार छिन्न हुए पत्रादिकों में भी

वृक्ष की स्वरूप शक्ति पाएजाने से उनके देखते ही वृक्ष का अनुमान होना चाहिये परन्तु उनसे अयंवृक्षःपत्रादिमत्त्वात् = पत्रादिकों के होने से यह वृक्ष है, इस प्रकार का अनुमान नहीं होता, इसलिये वस्तु की स्वरूपशक्ति व्याप्ति नहीं किन्तु आधेयशक्ति का अव्याभचारी सम्बन्ध ही व्याप्ति है।

सं०—ननु, स्वाभाविकशक्ति के आविर्भावरूपसम्बन्ध को ही व्याप्ति मानना चाहिये आधेयशक्ति को व्याप्ति मानना निष्फल है? उत्तर:—

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात्।३६।

पद०—आधेयशक्तिसिद्धौ। निजशक्तियोगः। समानन्यायात्।

पदा०—(समानन्यायात्) तुल्ययुक्ति पाएजाने से (आधेयशक्तिसिद्धौ) आधेशक्ति के सिद्ध होने पर (निजशक्तियोगः) स्वाभाविकशक्ति के आविर्भावरूप सम्धन्ध का भी ग्रहण होजाता है।

भाष्य—व्याप्य व्यापक के सङ्केत से होनेवाली शक्ति के अव्यभिचारी सम्बन्ध को "व्याप्ति" कहते हैं, इसी की सिद्धि से स्वाभाविक सम्बन्धरूपव्याप्ति की भी सिद्धि होती है अर्थात् दोनों प्रकार के व्याप्ति लक्षण की सिद्धि में समान युक्तियें पाईजाती हैं इसलिये उनके स्वरूप में कोई भेद नहीं और आधेयशक्ति को व्याप्ति मानना भी निष्फल नहीं अर्थात् जो अनुमानरूप प्रयोजन सांख्याचार्य्य का व्याप्ति से सिद्ध होता है वही पञ्चशिखाचार्य्य की व्याप्ति से होता है।

सं०—जिस प्रकार अनुमानप्रमाण को सिद्ध करने के लिये साध्य साधन के सम्बन्ध को निरूपण किया,इसी प्रकार अब शब्दप्रमाण की सिद्धि के लिये शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध निरूपण करते हैं :—

वाच्यवाचकभावःसम्बन्धःशब्दार्थयोः ।३७।

पद०—वाच्यवाचकभावः । सम्बन्धः । शब्दार्थयोः ।

पदा०—(शब्दार्थयोः) शब्द और अर्थ का (वाच्यवाचकभावः) वाच्यवाचकभाव (सम्बन्धः) सम्बन्ध है ।

भाष्य—अर्थ का नाम "वाच्य" और उसके बोधक शब्द का नाम "वाचक" है, इन दोनों का परस्पर वाच्यवाचकभावसम्बन्ध कहलाता है और इसी का नाम "वृत्ति" है, शक्ति और लक्षणा भेद से वृत्ति दो प्रकार की होती है, पद के साथ पदार्थ के साक्षात् सम्बन्ध का नाम "शक्ति" और परम्परा सम्बन्ध को "लक्षणा" कहते हैं । इसका विस्तारपूर्वक निरूपण वैशेषिकार्य्यभाष्य में किया है ।

सं०—वाक्यार्थबोध में वृत्तिज्ञान कारण होता है इसलिये अब उसके हेतुओं का कथन करते हैं :—

त्रिभिःसम्बन्धसिद्धिः । ३८ ।

पद०—त्रिभिः । सम्बन्धसिद्धिः ।

पदा०—(त्रिभिः) आप्तोपदेशादिकों से (सम्बन्धसिद्धिः) वाच्य-वाचकभावसम्बन्ध का ज्ञान होता है ।

भाष्य—आप्तोपदेश, वृद्धव्यवहार तथा प्रसिद्धपद की समीपता, यह तीन वृत्तिज्ञान के हेतु हैं जैसाकि "कोकिलःपिकपदवाच्यः= पिक पद का वाच्यार्थ कोकिल है, इत्यादि वाक्यों में पिक पद का

कोकिल के साथ वाच्यवाचकभावसम्बन्ध का ज्ञान "वृत्तिज्ञान" कहलाता है और यह आप्तोपदेश द्वारा होता है ।

और जहां प्रयोजक वृद्ध ने प्रयोज्यवृद्ध को कहाकि **गामानय**= गौ लेआ, वहां समीप रहने वाले बालक को वृद्धव्यवहार से गौ पद के वाच्यवाचकभावसम्बन्ध का ज्ञान होता है अर्थात् वह बालक उन दोनों के व्यवहार से समझलेता है कि गौ पद वाचक है और गौ व्यक्ति वाच्य है ।

और जो "**इहसहकारतरौमधुरंपिकोविरौति**=इस आम्र के वृक्षपर कोकिल मीठा २ बोल रही है,इत्यादि वाक्यों में पिक पद से बिना सब पदों के अर्थ जाननेवाले पुरुष को आम्रादि पदों की समीपता से पिकपद के उक्त सम्बन्ध का जो ज्ञान होता है वह प्रसिद्ध पद की समीपता से होता है,इस प्रकार उक्त तीनों वृत्तिज्ञान के हेतु हैं ।

सं०-ननु, उक्त प्रकार के सम्बन्ध का ज्ञान कार्य्यबोधक वाक्यों में ही होता है सिद्धार्थबोधक वाक्यों में नहीं ? उत्तर :—

न कार्य्येनियमउभयथादर्शनात् । ३९ ।

पद०-न । कार्य्ये । नियमः । उभयथादर्शनात् ।

पदा०-(उभयथादर्शनात्) दोनों प्रकार के वाक्यों में बोध के पाए जाने से (कार्य्ये) कार्य्य बोधक वाक्यों में सम्बन्ध ज्ञान का (नियमः) नियम (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य-**गामानयशुक्लांदण्डेन** = दण्ड से शुक्लागाय को लेआ, इत्यादि कार्य्यबोधक = विधिवाक्यों में ही सम्बन्ध का ज्ञान होता है यह नियम नहीं क्योंकि जिस प्रकार कार्य्य बोधक वाक्यों

में सम्बन्ध ज्ञान पाया जाता है इसी प्रकार **सर्वशक्तिमानीश्वरः** = सर्वशक्तिमान् ईश्वर है, **पुत्रस्तेजातः** = तेरे पुत्र हुआ, इत्यादि सिद्धार्थबोधक वाक्यों में भी आप्तोपदेशादिकों से सम्बन्ध ज्ञान पाया जाता है, इसलिये केवल कार्य्य बोधक वाक्यों में ही सम्बन्ध ज्ञान मानना ठीक नहीं।

सं०—ननु, लोक में उक्त रीति से सम्बन्ध ज्ञान द्वारा वाक्यार्थ बोध होता है परन्तु वेदवाक्यों का ज्ञान किस प्रकार होसक्ता है? उत्तर:—

लोकेऽव्युत्पन्नस्यवेदार्थप्रतीतिः।४०।

पद०—लोके। व्युत्पन्नस्य। वेदार्थप्रतीतिः।।

पदा०—(लोके) लौकिक वाक्यों में (व्युत्पन्नस्य) व्युत्पत्ति-वाले को (वेदार्थप्रतीतिः) वेदवाक्यों का अर्थज्ञान होता है।

भाष्य—जिस पुरुष को आप्तोपदेशद्वारा लौकिकशब्दों का सम्बन्ध ज्ञान होचुका है उसी पुरुष को वैदिक वाक्यों का अर्थ ज्ञान होता है अन्य को नहीं।

सं०—ननु, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, इन तीन प्रमाणों से ही लोक परलोक के सब पदार्थ जाने जासक्ते हैं फिर वेद से क्या प्रयोजन? उत्तर:—

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद् वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात।४१।

पद०—न।त्रिभिः। अपौरुषेयत्वात।वेदस्य।तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात।

पदा०—(अपौरुषेयत्वात) ईश्वर रचित होने से और (तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात) उसके अर्थ को अतीन्द्रिय होने से (त्रिभिः)

तीन प्रमाणों से (वेदस्य) वेदार्थ की प्रतीति (न) नहीं होती।

भाष्य–अर्थ प्रतीति का सम्बन्ध पूर्व सूत्र से आता है, वेदार्थ ईश्वरोक्त होने से अतिसूक्ष्म है इसलिये केवल प्रत्यक्षादिप्रमाणों से ज्ञात नहीं होसक्ता किन्तु एकमात्र वेद से ही होता है।

सं०–ननु, धर्मरूप यज्ञादि कर्मों के प्रत्यक्ष पाएजाने से वेदार्थ अतीन्द्रिय नहीं होसक्ता ? उत्तर :–

न यज्ञादेःस्वरूपतो धर्मत्वंवैशिष्ट्यात् ।४२।

पद०–न । यज्ञादेः । स्वरूपतः । धर्मत्वं । वैशिष्ट्यात् ।

पदा०–(वैशिष्ट्यात्) धर्मरूपफल के जनक होने से (यज्ञादेः) यज्ञादिकर्म (स्वरूपतः) स्वरूप से (धर्मत्वं) धर्म (न) नहीं है।

भाष्य–भाव यह है कि यज्ञ, तप, स्वाध्यायादि कर्मों का फल जो धर्म है वहवेदार्थ होने से अतीन्द्रिय पदार्थ है अर्थात् यज्ञादिकर्म धर्म के जनक हैं, धर्मरूप नहीं इसलिये उनके प्रत्यक्ष से धर्म का प्रत्यक्ष नहीं होसक्ता, इसलिये वेदार्थ को अतीन्द्रिय मानना ही ठीक है।

सं०–ननु, वेदके नानार्थ होनेसे अर्थाभास भी होजाता है इसलिये धर्माधर्म का विवेक नहीं होसक्ता ? उत्तर :–

निजशक्तिर्व्युत्पत्या व्यवच्छिद्यते।४३।

पद०–निजशक्तिः । व्युत्पत्या । व्यवच्छिद्यते ।

पदा०–(निजशक्तिः) शब्दार्थ काईश्वरीय सङ्केत (व्युत्पत्या) बुद्धि से (व्यवच्छिद्यते) जानाजाता है।

भाष्य–"इस पद का यही अर्थ ठीक है" इस प्रकार शब्दार्थ का ईश्वरीय सङ्केत वैदिकबुद्धि = वेदार्थ के सत्यासत्य निर्णय करने वाली बुद्धि से जाना जाता है, इसलिये वेदवाक्यों का नानार्थ होने

पर भी अर्थाभास के प्रतीत होजाने से धर्माधर्म का विवेक होसक्ता है अर्थात् सत्यासत्य अर्थ के विवेकद्वारा धर्माधर्म का विवेक होजाता है ।

सं०—ननु, पुरुषों की व्युत्पत्ति भिन्न २ होने से वेद के सत्यार्थ का निश्चय नहीं होसक्ता ? उत्तर :—

योग्यायोग्येषुप्रतीतिजनक-त्वात्तत्सिद्धिः । ४४।

पद०—योग्यायोग्येषु । प्रतीतिजनकत्वात् । तत्सिद्धिः ।

पदा०—(योग्यायोग्येषु) योग्य और अयोग्य अर्थों में (प्रतीति-जनकत्वात्) योग्यार्थ विश्वास का जनक होने से (तत्सिद्धिः) सत्यार्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—यद्यपि वेद वाक्यों के अर्थाभास द्वारा योग्यायोग्य भेद से अनेक प्रकार के अर्थ होने पर यह सन्देह बना रहता है कि कौन अर्थ सत्य है तथापि योग्य अर्थ ही विश्वास का जनक होता है इस-लिये वही सत्यार्थ है अन्य नहीं ।

भाव यह है कि जिस प्रकार "वन्हिनासिञ्चति" इत्यादि वाक्यों में अग्नि से सेचन क्रिया की योग्यता न पाएजाने से वह वाक्य प्रमाण नहीं होता, इसी प्रकार अयोग्य अर्थ प्रमाण नहीं हो-सकते, इसलिये पुरुषों की भिन्न २ मति होने पर भी वेद के सत्यार्थ निश्चय में कोई बाधा नहीं ।

सं०—यत्कृतकं तदनित्यम् = जो कार्य्य है वह अनित्य होता है, इस नियमानुसार कार्य्यरूप होने से वेद भी अनित्य हैं, अब इस आशय को लेकर पूर्वपक्षी आशङ्का करता है :—

न नित्यत्वं वेदानां कार्य्यत्वश्रुतेः ।४५।

पद०—न । नित्यत्वं । वेदानां । कार्य्यत्वश्रुतेः ।

पदा०—(कार्य्यत्वश्रुतेः) कार्य्यत्व पाएजाने से (वेदानां) वेदों की (नित्यत्वं) नित्यता (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य—"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" यजु० ३१ । ९ = उस परमात्मा से ऋगादि चारो वेद उत्पन्न हुए, इत्यादि मंत्रों से स्पष्टतया वेदों की उत्पत्ति पाएजाने से उनकी कार्य्यरूपता सिद्ध होती है और जो कार्य्य होता है वह अनित्य होता है अतएव वेद भी अनित्य हैं ।

सं०—अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं :—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावात् ।४६।

पद०—न । पौरुषेयत्वं । तत्कर्त्तुः । पुरुषस्य । अभावात् ।

पदा०—(तत्कर्त्तुः) वेदों का कर्त्ता (पुरुषस्य) जीव के (अभावात्) न होने से (पौरुषेयत्वं) वेद कार्य्यरूप (न) नहीं ।

भाष्य—वेदों का कर्त्ता कोई पुरुष न होने से वह कार्य्यरूप नहीं अपितु ईश्वरीय ज्ञान होने से नित्य हैं क्योंकि जो ईश्वरीय ज्ञान होता है वह नित्य होता है और जो उक्त मंत्र वेदों की अनित्यता में प्रमाण दियागया है उसका आशय यह है कि परमात्मा से वेदों का अविर्भाव होता है उत्पत्ति नहीं, और इसी आशय से "एतस्य महतोभूतस्य निश्वसितमेवैतत् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वांगिरसः" बृहदा० २ । ४ । १० में यह कथन किया है कि जो सब से बड़ा ब्रह्म है उसके श्वासरूप ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं अर्थात् श्वास प्रश्वास की भांति सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों का आविर्भाव होता है उत्पत्ति नहीं ।

दूसरी बात यह है कि सब दर्शनकार एक मत होकर वेदों को अपौरुषेय ही सिद्ध करते हैं जैसाकि "नित्यस्तुस्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्" पूर्वमीमां० १ । १ । १८ = शब्द का उच्चारण श्रोता के अर्थज्ञान के लिये होता है इसलिये वह नित्य है अर्थात् अपौरुषेय है । और "पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" यो० १।२६, "तद्वचनादाम्नायस्यप्रामाण्यम्" वैशेषि० १ । १ । ३ "शास्त्रयोनित्वात्" ब्र० सू० १ । १ । ३, "मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्चतत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्" न्या० २। १।६७ "निजशक्त्यभिव्यक्तेःस्वतःप्रामाण्यम्" सां० ५ । ५१, इत्यादि सूत्रों में भले प्रकार सिद्ध किया है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण है और वह ज्ञान नित्य है ।

और जो आधुनिक वेदान्ती वेदों को आपौरुषेय मानकर प्रलय काल पर्य्यन्त स्थिति वाला मानते हैं, यह इसलिये ठीक नहीं कि सूत्रों में इस आशय का गन्धमात्र भी नहीं पायाजाता किन्तु बलपूर्वक यह सिद्ध किया है कि वेद नित्य होने से अपौरुषेय हैं और जो नवीन नैयायिक वेदों को अनित्य मानते हैं वह महर्षि गोतम के उक्त सूत्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है । अतएव वेदों का अनित्य मानना ठीक नहीं ।

सं०—ननु, वेदों का कर्त्ता पुरुष क्यों नहीं होसक्ता ? उत्तर :—

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ।४७।

पद०—मुक्तामुक्तयोः । अयोग्यत्वात् ।

पदा०–(मुक्तामुक्तयोः) मुक्त तथा बद्ध जीव की (अयोग्यत्वात्) योग्यता न होने से वह मनुष्यकृत नहीं होसक्ते ।

भाष्य–मुक्तपुरुष मुक्ति अवस्था में ब्रह्मानन्द को भोगता है और बद्ध सर्वज्ञ नहीं, इसलिये दोनों ही वेदों के कर्त्ता नहीं होसकते, सर्वज्ञ होने से ईश्वर ही वेदों का कर्त्ता है ।

सं०–ननु, जिस प्रकार वेद अपौरुषेय होने से नित्य हैं इसी प्रकार अपौरुषेय होने से सृष्टि को भी नित्य मानना चाहिये ? उत्तर :–

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत् । ४८ ।

पद०–न । अपौरुषेयत्वात् । नित्यत्वम् । अङ्कुरादिवत् ।

पदा०–(अङ्कुरादिवत्) अङ्कुरादि की भांति (अपौरुषेयत्वात्) अपौरुषेय होने से सृष्टि (नित्यत्वम्) नित्य (न) नहीं होसकती ।

भाष्य–जिसका कर्त्ता मनुष्य न हो उसको **"अपौरुषेय"** कहते हैं, जिस प्रकार अङ्कुरादि पदार्थों का मनुष्य कर्त्ता नहीं परन्तु वह नित्य भी नहीं, इसी प्रकार अपौरुषेय होने पर भी सृष्टि नित्य नहीं होसक्ती क्योंकि उसकी उत्पत्ति पाईजाती है और वेदों की उत्पत्ति न पाएजाने से वह नित्य हैं ।

भाव यह है कि केवल अपौरुषेय होना ही नित्यता का प्रयोजक नहीं किन्तु अपौरुषेय होने पर जो वास्तव में उत्पत्ति वाला नहो वह नित्य कहलाता है, वेद ईश्वर का ज्ञानरूप होने से वास्तव में उत्पत्ति वाले नहीं इसलिये नित्य हैं ।

सं०–ननु, अङ्कुरादिक अपौरुषेय किस प्रकार होसकते हैं ? उत्तरः–

तेषामपितद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः । ४९ ।

पद०–तेषां । अपि । तद्योगे । दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ।

पदा०–(तेषां, अपि, तद्योगे) यदि अङ्कुरादिकों के साथ मनुष्य के कर्तृत्व का योग मानाजाय तो (दृष्टबाधादिप्रसक्तिः) दृष्टबाधादि दोषों की प्राप्ति होगी ।

भाष्य–प्रत्यक्षप्रमाण से अङ्कुरादिकों का कर्त्ता कोई मनुष्य सिद्ध न होने से दृष्टबाध अर्थात् अङ्कुरादिकों में जीव का अकर्तृत्व=कर्त्ता न होना प्रत्यक्षप्रमाण सिद्ध है और यदि मनुष्य के कर्त्ता होने का अनुमान कियाजाय तो लिङ्ग के न होने से अदृष्टकल्पनारूप दोष होगा, इसलिये अङ्कुरादिकों में पौरुषेयत्व मानना ठीक नहीं ।

सं०–अब पौरुषेयत्व तथा अपौरुषेयत्व के जानने का प्रकार कथन करते हैं :–

यस्मिन्नदृष्टेऽपिकृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् । ५० ।

पद०–यस्मिन् । अदृष्टे । अपि । कृतबुद्धिः । उपजायते । तत् । पौरुषेयम् ।

पदा०–(अदृष्टे, अपि) कर्त्ता के प्रत्यक्ष न होने पर भी (यस्मिन्) जिस पदार्थ में (कृतबुद्धिः) मनुष्य के कर्तृत्व की बुद्धि (उपजायते) उत्पन्न होती है (तत्) वह (पौरुषेयम्) पौरुषेय होता है ।

भाष्य–जिसप्रकार महाभारतादि ग्रन्थों के कर्त्ता का प्रत्यक्ष न होने पर भी बुद्धि यह मानती है कि यह अवश्य किसी मनुष्य रचित हैं अर्थात् जिन पदार्थों में मनुष्य के कर्तृत्व की बुद्धि पाई जाती है

वह पौरुषेय और जिसमें मनुष्य के कर्तृत्व की बुद्धि नहीं पाईजाती वह अपौरुषेय है जैसाकि ईश्वरकृत होने से वेद अपौरुषेय हैं।

सं०—अब वेदों के स्वतःप्रामाण्य का निरूपण करते हैं:—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ।५१।

पद०—निजशक्त्यभिव्यक्तेः। स्वतःप्रामाण्यम्।

पदा०—(निजशक्त्यभिव्यक्तेः) ईश्वरकी स्वाभाविकशक्ति द्वारा प्रकट होने से (स्वतःप्रामाण्यम्) वेद स्वतःप्रमाण हैं।

भाष्य—जिसप्रकार सूर्य्य घटपटादि पदार्थों को प्रकाशताहुआ अपने प्रकाश के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता इसी प्रकार ईश्वरीय स्वाभाविकशक्ति द्वारा प्रकट होने से वेद भी अपने प्रमाण के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते अर्थात् वह स्वतःप्रमाण हैं। इसी आशय को स्वामी शङ्कराचार्य्य "**शास्त्रयोनित्वात्**" ब्र० सू० १।१।३ के भाष्य में यों लिखते हैं कि **प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः**=प्रदीप के समान सम्पूर्ण अर्थों का प्रकाशक वेद स्वतःप्रमाण है।

सं०—अब भ्रान्तिज्ञानविषयकवादियों के मतों का खण्डन करते हुए निज सिद्धान्त कथन करते हैं:—

नासतः ख्यानं नृशृङ्गवत् ।५२।

पद०—न। असतः। ख्यानं। नृशृङ्गवत्।

पदा०—(नृशृङ्गवत्) मनुष्य के सींग की भांति (असतः) शून्य पदार्थ की (ख्यानं) प्रतीति (न) नहीं हो सकती।

भाष्य—शुक्ति रजतादि स्थलों में जहां भ्रान्तिज्ञान होता है वहां वादियों के अनेक मत हैं, शून्यवादी का यह आशय है कि भ्रमस्थल

में असत् अर्थात् अत्यन्तालीक वस्तु का भान होता है ! पर यह इसलिये ठीक नहीं कि जिसप्रकार अत्यन्तालीक मनुष्यशृङ्ग की प्रतीति नहीं होती इसीप्रकार जहां शुक्ति में रजत का भ्रम होता है वहांपरभी अत्यन्तालीक रजत की प्रतीति नहीं होसक्ती ।

सं०–ननु,भ्रान्तिस्थल में विज्ञान ही रजताकार प्रतीत होता है ? उत्तर :–

नसतोबाधदर्शनात् । ५३ ।

पद०–न । सतः । बाधदर्शनात् ।

पदा०–(बाधदर्शनात्) बाध होने से (सतः) विज्ञान की प्रतीति (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य–आत्मख्यातिवादी योगाचार का यह मत है कि जिस प्रकार सत, रजतादि स्थलों में विज्ञान की प्रतीति होती है और उस से भिन्न सब बाह्यपदार्थ आभासमात्र प्रतीत होते हैं इसीप्रकार जहां शुक्ति में **इदंरजतम्** = यह रजत है, इस प्रकार का ज्ञान होता है वहां भी विज्ञान ही रजताकार हुआ भासता है, यह मत इसलिये ठीक नहीं कि शुक्तिज्ञान के अनन्तर "**नेदंरजतम्** = यह रजत नहीं किन्तु शुक्ति है, इसप्रकार उसका बाधज्ञान पायाजाता है । यदि विज्ञान ही रजताकार हुआ प्रतीत होता तो उसका बाध न होता क्योंकि विज्ञानवादी के मत में विज्ञान सदा विद्यमान है ।

भाव यह है कि यदि भ्रमस्थल में रजत को विज्ञानस्वरूप ही मानाजाय तो शुक्ति के समान उसका बाध न होना चाहिये परन्तु शुक्तिज्ञान के अनन्तर रजतज्ञान का बाध होजाता है इसलिये रजताकार हुए विज्ञान की प्रतीतिरूप आत्मख्याति का मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब मायावादियों की मानी हुई अनिर्वचनीयख्याति का खण्डन करते हैं :—

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् । ५४ ।

पद०—न । अनिर्वचनीयस्य । तदभावात् ।

पदा०—(तदभावात्) सदसत् से विलक्षण वस्तु न होने से (अनिर्वचनीयस्य) अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य—जहां शुक्ति में "इदंरजतम्" यह ज्ञान होता है वहां मायावादी अनिर्वचनीयख्याति मानते हैं, इसका प्रकार यह है कि रजत संस्कार वाले पुरुषके दोष सहित चक्षुःइन्द्रिय का शुक्ति के साथ सम्बन्ध होने पर भी दोषबल से शुक्ति के शुक्तित्व धर्म तथा नीलपृष्ठतादि की प्रतीति नहीं होती किन्तु उसके सामान्यधर्म इदन्ता की प्रतीति होती है अतएव अन्तःकरण चक्षुरिन्द्रिय द्वारा शुक्ति देश को प्राप्त होकर इदमाकार परिणाम को प्राप्त होता है और इदमाकारवृत्त्युपहितचेतननिष्ठ अविद्याके रजताकार और रजत ज्ञानाकार दो परिणाम होते हैं, इस प्रकार अविद्या का परिणाम होने से अनिर्वचनीय रजत की प्रतीति को "अनिर्वचनीयख्याति" कहते हैं, यह इसलिये ठीक नहीं कि घटादि सत् तथा शशशृङ्गादि असत् पदार्थों से भिन्न कोई पदार्थ सदसत् से विलक्षण सिद्ध नहीं होता अतएव उसकी ख्यातिको अनिवर्चनीयख्याति नहीं कह सक्ते। इसके खण्डन का विशेष प्रकार वेदान्तार्यभाष्य की भूमिका में निरूपण किया है।

सं०—ननु, हम भ्रान्ति स्थल में विपर्य्यय ज्ञान मानलेंगे इस में क्या दोष ? उत्तर :—

नान्यथाख्यातिःस्ववचोव्याघातात् । ५५ ।

पद०—न । अन्यथाख्यातिः । स्ववचोव्याघातात् ।

पदा०—(स्ववचोव्याघातात्) अपने वचन के विरोध से (अन्यथाख्याति) विपरीतज्ञान (न) तुम्हारे मत में नहीं घट सक्ता ।

भाष्य—मायावादी भ्रान्तिस्थल में सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय पदार्थ मानते हैं, इस मानने से उनका अभिप्राय यह है कि शुक्ति रजतादि सदसद् से विलक्षण अनिर्वचनीय पदार्थ हैं अत्यन्तालीक नहीं, इसीलिये वह बन्धन का हेतु हैं। इसका खण्डन पूर्वसूत्र में कियागया है कि शुक्तिरजतादि अनिर्वचनीय पदार्थ नहीं, अब यदि मायावादी यह कहें कि हम भ्रान्ति स्थल में अन्यथाख्याति = विपरीतज्ञान मानलेंगे और उसके मिथ्या होने से प्रपंच में मिथ्यात्व सिद्ध होजायगा, इसका उत्तर यह है कि ऐसा मानने से "स्ववचोव्याघातात् = तुम्हारे कथन का तुम से ही विरोध आजायगा, वह इस प्रकार कि तुम सदसद् से विलक्षण को अनिर्वचनीय मानते हो और विपरीत मानने से तुम्हारा असत् से विलक्षण को अनिर्वचनीय कहना ठीक न रहा क्योंकि विपरीतज्ञान असत् से विलक्षण नहीं इसलिये भ्रमस्थल में तुम्हारे मत में अन्यथाख्याति नहीं बन सक्ती ।

सं०—अब इस विषय में निजसिद्धान्त कथन करते हैं :—

सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् । ५६ ।

पद०—सदसत्ख्यातिः । बाधाबाधात् ।

पदा०—(बाधाबाधात्)बाध और अबाध के पाए जाने से (सदसत्ख्यातिः) सदसत्ख्याति का मानना ठीक है ।

भाष्य–भ्रान्ति से प्रतीत हुए रजतत्त्वादि धर्मवाली वस्तु में निषेध विषयक ज्ञान का नाम "बाध" और सत् तथा असत् वस्तु की प्रतीतिका नाम "सदसत्ख्याति" है और इसीको "अख्याति" भी कहते हैं । अख्यातिवादी मीमांसक का यह अभिप्राय है कि जहां शुक्ति में रजतज्ञान होता है वहां दो ज्ञान हैं अर्थात् तिमिरादि प्रमाण दोष बल से सन्मुख स्थित शुक्ति के विशेष अंश का ज्ञान नहीं होता किन्तु शुक्ति के साथ चक्षुःइन्द्रिय के सम्बन्ध होने से उस के सामान्य इदन्तारूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और सामान्य ज्ञान के उत्तरक्षण में प्रमाता के लोभादिक दोष सहित प्रमेय के सादृश्यादि दोष द्वारा रजत संस्कारों के उद्बुद्ध होने से रजत विषयक स्मृति ज्ञान होता है और प्रमाणादिकों के तिमिरादिक दोषों से प्रत्यक्ष और स्मृतिज्ञान का "मयि भिन्नविषयं ज्ञान द्वयं जातम्=मुझे भिन्न २ विषयवाले दो ज्ञान हुए हैं, इस प्रकार ज्ञान और विषय के भेद का अग्रह=दोनों ज्ञानों का अविवेक होता है, इस भेदाग्रह रूपी अविवेक का नाम ही अख्याति अथवा सदसत्ख्याति है । भ्रम, विपर्य्यय, मिथ्याज्ञान, अख्याति, सदसत्ख्याति, यह सब पर्यायवाची शब्द हैं ।

भाव यह है कि रजतादिज्ञान का विषय रजतादिक, शुक्ति देश से भिन्न देश में विद्यमान होने के कारण सत् हैं और शुक्ति देश में असत् हैं इसलिये 'नेदंरजतं=यह रजत नहीं है, इस प्रकार के बाधज्ञान से यद्यपि अन्यदेश में होने वाले रजत का स्वरूप से बाध नहीं पायाजाता तथापि सन्मुख स्थित शुक्ति में उसका बाध पाया जाता है, इसरीति से बाध तथा अबाध के पाये जाने से सत् तथा असत् की प्रतीति का नाम "सदसतख्याति" है, यहां इतना

विशेष स्मरण रहे कि असत्ख्याति, आत्मख्याति, और अनिर्वचनीयख्याति, यह तीन ख्यातियें वेदविरुद्ध मत वालों ने मानी हैं और वैदिक सिद्धान्त में अन्यथाख्याति तथा सदसत्ख्याति माननीय हैं ।

सं०–अब वादि स्फोटरूप शब्द की नित्यता में दोष कहता है :–

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ।५७।

पद०–प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां । न । स्फोटात्मकः । शब्दः ।

पदा०–(प्रतीत्यप्रतीतिभ्याम्) प्रतीति और अप्रतीति के पाए जाने से (शब्दः) शब्द (स्फोटात्मकः) स्फोटरूप (न) नित्य नहीं होसक्ता ।

भाष्य–स्फुटत्यर्थोऽस्मादितिस्फोटः=जिस से अर्थ की प्रतीति हो उसको "स्फोट" कहते हैं, और वह मीमांसक तथा वैयाकरणों ने नित्य माना है परन्तु जिसप्रकार गकारादि वर्णों की प्रतीति होती है इस प्रकार नित्य स्फोटरूप शब्द की प्रतीति नहीं होती इसलिये उसके नित्य मानने में कोई तर्क नहीं मिलता ।

भाव यह है कि जिस प्रकार वर्णों में अर्थ प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं इसीप्रकार स्फोट में भी अर्थ प्रतिपादन करने की भी शक्ति नहीं होसक्ती इसलिये स्फोटरूप शब्दको नित्य मानना ठीक नहीं ।

सं०–अब उक्तपूर्वपक्ष का उत्तर कथन करते हैं :–

नशब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ।५८।

पद०–न । शब्दनित्यत्वम् । कार्यताप्रतीतेः ।

पदा०–(न) उक्तपक्ष ठीक नहीं क्योंकि (कार्यताप्रतीतेः) कार्य-

त्व धर्म की प्रतीति न होने से (शब्दनित्यत्वम) शब्द का नित्य होना पाया जाता है ।

भाष्य—जिस प्रकार हस्तपादादि अवयवों से भिन्न अवयवी होता है इसी प्रकार गकारादि वर्णों से भिन्न अर्थप्रतीति का हेतु स्फोट रूप शब्द नित्य है क्योंकि उसके कार्य होने की प्रतीति नहीं होती।

भाव यह है कि जो वस्तु कार्य हो वह अनित्य होती है स्फोट रूप शब्द के कार्य होने में कोई युक्ति नहीं अतएव उसकी नित्यता में भी कोई बाधा नहीं अर्थात् स्फोटरूप शब्द ही अर्थ का वाचक है यदि वर्णों को वाचक माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि एक २ वर्ण अर्थ का वाचक है अथवा वर्णसमुदाय अर्थ का वाचक है, प्रथम पक्ष इस लिये ठीक नहीं कि जब घटादि पदों में प्रत्येक वर्ण को अर्थ वाचक माना जायगा तो "घ" मात्र के कथन से घट का बोध हो जायगा फिर टकारादि वर्णों का उच्चारण निरर्थक हुआ और द्वितीयपक्ष में यह दोष है कि यदि वर्णों की उत्पत्ति मानी जाय तो एककाल में सब की उत्पत्ति न होने से वर्णसमुदाय नहीं बन सक्ता, और यदि वर्णों की अभिव्यक्ति मानकर समुदाय को वाचक मानें तो भी क्रम से अभिव्यक्ति होने के कारण समुदाय के न बनने से समानरूप की स्मृति में आरूढ़ हुए वर्णों को वाचक मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से सर और रस शब्द के अर्थज्ञान में भेद नहीं रहता अर्थात् सर कथन करने से रस का और रस कथन से सर का बोध होना चाहिये पर ऐसा नहीं होता इसलिये वर्णों से भिन्न नादमात्र से अभिव्यक्त होने वाला अर्थ का वाचक स्फोटरूप शब्द नित्य है ।

सं०—ननु, "उत्पन्नोगकारोनष्टोगकारः = गकार उत्पन्न हुआ और गकार नष्ट हुआ, इस प्रतीति से शब्द की कार्यता पाई जाती है ? उत्तर :—

पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य । ५९ ।

पद०—पूर्वसिद्धसत्त्वस्य । अभिव्यक्तिः । दीपेन । इव । घटस्य ।

पदा०—(दीपेन) दीपक से (घटस्य) घट की (इव) भांति (पूर्वसिद्धसत्त्वस्य) पूर्व विद्यमान शब्द का (अभिव्यक्तिः) आविर्भाव होता है ।

भाष्य—जिस प्रकार सिद्ध हुए घट का प्रदीप से अविर्भाव होता है इसी प्रकार कारण व्यापार से प्रथम सत्त्व = सिद्धरूप शब्द का अविर्भाव होता है उत्पत्ति नहीं, और गकारादि शब्दों के उत्पत्ति नाश की प्रतीति केवल अभिव्यंजकनाद = ध्वनिकी उपाधि से होती है अर्थात् ध्वनि की उत्पत्ति तथा नाश की प्रतीति स्फोटरूप शब्द में भ्रम से होती है ।

सं०—ननु, शब्द की अभिव्यक्ति मानने से सत्कार्य्यवाद मानना पड़ेगा ? उत्तर :—

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम् । ६० ।

पद०—सत्कार्यसिद्धान्तः । चेत् । सिद्धसाधनम् ।

पदा०—(चेत्) यदि (सत्कार्यसिद्धान्तः) शब्द के अभिव्यक्ति पक्ष में सत्कार्यवाद मानाजाय तो यह दोष नहीं होसकता क्योंकि (सिद्धसाधनम) सिद्ध वस्तु के साधन से सत्कार्यवाद इष्ट है ।

भाष्य—हमारे मत में पदार्थमात्र की अभिव्यक्ति मानी है उत्पत्ति नहीं, इसलिये शब्दकी अभिव्यक्ति मानने में सत्कार्यवाद का मानना इष्ट है अनिष्ट नहीं, इसलिये इससूत्र में केवल वादी के समझाने के लिये शब्द की अभिव्यक्ति कथन की है वास्तव में सत्कार्य्यवाद का सिद्धान्त ही इष्ट है अतएव कोई दोष नहीं ।

सं०-अब चेतनों के परस्पर भेद को युक्त्यन्तर से कथन करते हैं :-

नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात्तद्भेदप्रतीतेः । ६१ ।

पद०-न । अद्वैत । आत्मनः । लिङ्गात् । तद्भेदप्रतीतेः ।

पदा०-(लिङ्गात्) सुखदुःखादिलिंगों से (तद्भेदप्रतीतेः) जीवों का भेद पाया जाता है इसलिये (आत्मनः) आत्मा की (अद्वैतं) एकता (न) नहीं होसकती ।

भाष्य-संसार में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई ऊंच, कोई नीच देखे जाने से प्रतीत होता है कि आत्मा नाना हैं, यदि आत्मा एक ही होता तो एक के सुखी दुःखी होने से सब सुखी दुःखी होने चाहियें पर ऐसा न होने से ज्ञात होता है कि आत्मा नाना हैं ।

सं०-अब जड़ चेतन की एकता में प्रत्यक्ष से बाध कथन करते हैं :-

नानात्मनाऽपि प्रत्यक्षबाधात् । ६२ ।

पद०-न । अनात्मना । अपि । प्रत्यक्षबाधात् ।

पदा०-(अनात्मना) अनात्मपदार्थों से (प्रत्यक्षबाधात्) आत्मा की एकता का प्रत्यक्षबाध पाया जाता है इसलिये (अपि) भी (न) जड़चेतनकी एकता नहीं होसकती ।

भाष्य-आत्मा से भिन्न सब भोग्य पदार्थों का नाम "अनात्मा" है, अनात्मपदार्थों से भी आत्मा की एकता का प्रत्यक्ष बाध पाया-जाता है अर्थात् आत्मा चेतन होने के कारण जड़वस्तुओं से भिन्न है क्योंकि भूतों की मिलावट से उत्पन्न नहीं होता और इसबात का भेदग्राही प्रत्यक्ष से बाध पायाजाता है कि आत्माभूतमात्र नहीं है ।

सं०-अब उक्त युक्तियों का उपसंहार कथन करते हैं :-

नोभाभ्यां तेनैव । ६३ ।

पद०-न । उभाभ्यां । तेन । एव ।

पदा०-(तेन, एव) उक्त दोनों हेतुओं से (उभाभ्यां) आत्म तथा अनात्म पदार्थकृत एकता (न) नहीं होसकती ।

भाष्य-जीव में सुख, दुःखादि भेद पाएजाने से तथा प्रकृत्यादि-कों में जड़ता पाएजाने से उक्त हेतुओं द्वारा अद्वैतवाद सिद्ध नहीं होसकता ।

सं०-ननु, "आत्मैवेदंसर्वम्" छा० ७।२५।२ = यहसब जगत् आत्मरूप है, इत्यादि वाक्यों से आत्मा की एकता सिद्ध होती है फिर उसका खण्डन कैसे ? उत्तर :-

अन्यपरत्वमविवेकानांतत्र । ६४ ।

पद०-अन्यपरत्वम । अविवेकानां । तत्र ।

पदा०-(तत्र) उक्त वाक्यों में (अविवेकानां) अविवेकी पुरुषों को (अन्यपरत्वम) प्रकृतिपुरुष विषयक एकता प्रतीत होती है ।

भाष्य-जिन वाक्यों में आत्मा की एकता पाई जाती है वह शमविधि के अभिप्राय से हैं एक आत्मा के अभिप्राय से नहीं यदि एक आत्मा का अभिप्राय होता तो "द्वासुपर्णासयुजासखाया" ऋ०२।३।१७, इत्यादिमंत्रों में परमात्मा, जीव और प्रकृति का भेद वर्णन न किया जाता, इससे पाया जाता है कि उक्त वाक्य जड़ चेतन की एकता के प्रतिपादक नहीं किन्तु परमात्मा के एकत्व के प्रतिपादक हैं ।

सं०-अब आत्मा तथा अविद्या की उपादान कारणता का खण्डन करते हैं :—

नात्माऽविद्यानोभयंजगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात् । ६५ ।

पद०—न । आत्मा । अविद्या । न । उभयं । जगदुपादानकारणं । निःसङ्गत्वात् ।

पदा०—(निःसङ्गत्वात्) असङ्ग होने से आत्मा और मिथ्या होने से अविद्या (जगदुपादानकारणं) जगत् का उपादान कारण (न) नहीं, और (उभयं) मिलकर भी (न) नहीं ।

भाष्य—विकारशून्य होने से "आत्मा" तथा मायावदियों के मतमें मिथ्या होने से "अविद्या" जगत् का उपादान कारण नहीं होसक्ती । और आत्मा, अविद्या दोनों मिलकर भी उपादानकारण इसलिये नहीं कि इनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं बन सक्ता अर्थात् आविद्यक सम्बन्ध की तथा आविद्यक सम्बन्ध को अविद्या की अपेक्षारूप अन्योन्यश्रयदोष होने से आत्मा के साथ अविद्या का सम्बन्ध नहीं होसक्ता, अतएव वह जगत् के उपादान कारण नहीं होसक्ते ।

सं०—अब जीवात्मा के आनन्दस्वरूप की असिद्धि कथन करते हैं :—

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् । ६६ ।

पद०—न । एकस्य । आनन्दचिद्रुपत्वे । द्वयोः । भेदात् ।

पदा०—(द्वयोः) दोनों का (भेदात्) भेद पाए जाने से (एकस्य) जीवात्मा (आनन्दचिद्रूपत्वे) आनन्द तथा चेतनस्वरूप मिलकर (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—"रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" तैत्ति० २।७ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में आनन्द और चेतन का भेद पाया

जाता है अर्थात् आनन्दरूपकर्म और उसके लाभ करने वाले कर्त्ता का भेद कथन किया है इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि जीवात्मा चिद्रूप है पर आनन्दस्वरूप नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि वैदिक सिद्धान्त में ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप तथा जीवात्मा सच्चिद्रूप और प्रकृति सद्रूप है। जीवात्मा मुक्ति में ही ब्रह्मानन्द के उपभोग से आनन्द होता है स्वयं आनन्द स्वरूप नहीं।

सं०—ननु, यदि जीवात्मा आनन्दस्वरूप नहीं तो **आनन्दोऽहम्** = मैं आनन्द हूं, इस प्रकार की प्रतीति क्यों होती है? उत्तर :—

दुःखनिवृत्तेर्गौणः। ६७।

पद०—दुःखनिवृत्तेः। गौणः।

पदा०—(दुःखनिवृत्तेः) दुःखनिवृत्ति होने से (गौणः) सुख की प्रतीति गौण होती है।

भाष्य—आत्मा में जो सुखी होने की प्रतीत होती है वह आत्मा के सुख स्वरूप होने के कारण नहीं किन्तु दुःख के निवृत्त होने से सुखस्वरूप का भान होता है अर्थात् जीवात्मा में सुख प्रतीति गौण है मुख्य नहीं।

सं०—ननु, फिर मुक्ति अवस्था में जीवात्मा को आनन्द स्वरूप क्यों माना है? उत्तर :—

विमुक्तिप्रशंसामन्दानाम्। ६८।

पद०—विमुक्तिप्रशंसा। मन्दानाम्।

पदा०—(विमुक्तिप्रशंसा) मुक्ति अवस्था में जीवात्मा आनन्द स्वरूप होता है यह कथन (मन्दानाम्) अविवेकी पुरुषों का है।

भाष्य–वैदिक सिद्धान्त को न जानने वाले पुरुष "अविवेकी" कहलाते हैं, उनका यह कथन है कि मुक्ति में जीवात्मा आनन्द स्वरूप होता है अर्थात् स्वरूपभूत चैतन्य की भांति उसके स्वरूपभूत आनन्द का आविर्भाव होता है, यह उनकी भूल है क्योंकि ब्रह्मानन्द के उपभोग से जीवात्मा आनन्दी होता है। इस बात को आगे सां० ६। ९ में स्पष्ट करेंगे।

सं०–अब मनकी व्यापकता का खण्डन करते हैं :–

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा। ६९।

पद०–न। व्यापकत्वं। मनसः। करणत्वात्। इन्द्रियत्वात्। वा।

पदा०–(करणत्वात्) करण होने से (वा) अथवा (इन्द्रियत्वात्) इन्द्रिय होने से (मनसः) मनकी (व्यापकत्वं) व्यापकता की सिद्धि (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य–जिस प्रकार कुठारादि छिदि क्रिया के साधकतम होने से करण हैं और वह व्यापक नहीं तथा चक्षुरादि इन्द्रिय रूपादिज्ञान के असाधारण करण हैं और वह व्यापक नहीं, इसी प्रकार सुख दुःखादि ज्ञान का अत्यन्त साधक होने से वा इन्द्रियरूप होने से मन व्यापक नहीं होसक्ता।

सं०–मन के परिच्छिन्न होने में और हेतु कहते हैं :–

सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः। ७०।

पद०–सक्रियत्वात्। गतिश्रुतेः।

पदा०–(गतिश्रुतेः) गति के पाए जाने से मन (सक्रियत्वात्) क्रिया वाला है इसलिये व्यापक नहीं।

भाष्य–मन सहित आत्मा का लोक लोकान्तरों में गमनागमन पाया जाता है इसलिये वह व्यापक नहीं होसक्ता।

भाव यह है कि जो पदार्थ व्यापक होता है उसमें गमनागमनादि क्रिया नहीं होती, यदि मन भी व्यापक होता तो उसका लोक लोकान्तरों में गमनागमन न होता इसलिये वह परिच्छिन्न है।

सं०–ननु, यदि मन परिच्छिन्न है तो वह अणुपरिमाण वाला होना चाहिये? उत्तर :–

न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटवत्। ७१।

पद०–न। निर्भागत्वं। तद्योगात्। घटवत्।

पदा०–(घटवत्) घट की भांति (तद्योगात्) सावयव होने से मन (निर्भागत्वं) अणुपरिमाणवाला (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य–जिस प्रकार घटपटादि पदार्थ सावयव होने से अणुपरिमाण वाले नहीं इसी प्रकार मन भी सावयव होने से अणु नहीं किन्तु घटादि की भांति मध्यम परिमाणवाला है।

सं०–ननु, मन नित्य है फिर सावयव कैसे? उत्तर :–

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्। ७२।

पद०–प्रकृतिपुरुषयोः। अन्यत्। सर्वम्। अनित्यम्।

पदा०–(प्रकृतिपुरुषयोः) प्रकृति पुरुष से (अन्यत्) भिन्न (सर्वम्) सब (अनित्यम्) अनित्य हैं।

भाष्य–सूत्र में "पुरुष" शब्द से जीव, ईश्वर दोनों का ग्रहण है।

भाव यह है कि जीव, ईश्वर, प्रकृति, यह तीन पदार्थ नित्य हैं और इन से भिन्न सम्पूर्ण पदार्थ अनित्य हैं इसलिये मन नित्य नहीं होसक्ता।

सं०–ननु, जीव को सावयव मानने में क्या दोष ? उत्तर :–

न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ।७३।

पद०–न । भागलाभः । भोगिनः । निर्भागत्वश्रुतेः ।

पदा०–(निर्भागत्वश्रुतेः) निरवयव होने से (भोगिनः) जीव का (भागलाभः) सावयव होना सिद्ध (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य–यदि जीवको सावयव मानाजाय तो घटादि के समान अनित्य होगा और "नजीवोम्रियते" छा० ६। ११। ३ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में जीव को नित्य कथन कियागया है इसलिये वह सावयव नहीं, दूसरी बात यह है कि सावयव मानने से अनित्यरूप दोष तथा कृतकर्मों का नाश और अकृतकर्मों के फल की प्राप्ति अर्थात् अकृताभ्यागमरूपदोष आता है अतएव जीव को सावयव मानना ठीक नहीं ।

सं०–अब अवैदिक मतों की मुक्तियों का खण्डन करते हैं :—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ।७४।

पद०–न । आनन्दाभिव्यक्तिः । मुक्तिः । निर्धर्मत्वात् ।

पदा०–(निर्धर्मत्वात्) धर्म रहित होने से (आनन्दाभिव्यक्तिः) आनन्द का आविर्भावरूप (मुक्तिः) मुक्ति (न) नहीं होसकती ।

भाष्य–संसारावस्था में जीव का आनन्दस्वरूप अनेक प्रकार की विषय वासनाओं से दबजाता है और मोक्षावस्था में उसी के आविर्भाव का नाम मुक्ति है ! यह इसलिये ठीक नहीं कि आनन्द-धर्मरहित जीवात्मा मुक्ति अवस्था में आनन्द की अभिव्यक्तिवाला नहीं होसकता क्योंकि प्रथम प्रकट न होकर पीछे प्रकट होने का नाम "अभिव्यक्ति" है जब जीव के आनन्द का खण्डन पीछे

कर आए हैं कि जीव आनन्दस्वरूप नहीं फिर उसके आनन्द की अभिव्यक्ति कैसे होसकती है ।

सं०–ननु, ज्ञानादि विशेषगुणों का नाशरूप मुक्ति मानने में क्या दोष ? उत्तरः—

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ।७५।

पद०–न । विशेषगुणोच्छित्तिः । तद्वत् ।

पदा०–(तद्वत्) आनन्दाभिव्यक्ति की भांति (विशेषगुणोच्छित्तिः) विशेषगुणों का नाश मुक्ति (न) नहीं होसकती ।

भाष्य–जिसप्रकार धर्मरहित आत्मा के आनन्दाभिव्यक्तिरूपधर्मों का आविर्भाव मुक्ति नहीं इसी प्रकार आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न होनेवाले ज्ञानादिगुणों का अत्यन्त उच्छेद भी मुक्ति नहीं होसक्ता क्योंकि गुणों का अत्यन्त बाध न होना इसी अध्याय के २६ वें सूत्र में लिख आए हैं और दूसरी बात यह है कि गुणों का नाश अभाव पदार्थ है और मुक्ति अभाव पदार्थ नहीं । अतएव गुणों का नाशरूप मुक्ति मानना ठीक नहीं ।

सं०–अब लोकविशेष की प्राप्तिरूप मुक्ति का खण्डन करते हैं:–

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ।७६।

पद०–न । विशेषगतिः । निष्क्रियस्य ।

पदा०–(निष्क्रियस्य) क्रिया रहित आत्मा की (विशेषगतिः) देशविशेष में प्राप्ति मुक्ति (न) नहीं होसकती ।

भाष्य–मुक्ति अवस्था में आत्मा कर्म से रहित होता है इसलिये उसको कर्मजन्य लोकविशेष की प्राप्ति नहीं होसकती ।

सं०–अब क्षणिकवादियों की मुक्ति में दोष कथन करते हैं:–

नाकारोपरागोच्छित्तिःक्षणिकत्वादिदोषात् । ७७ ।

पद०—न । आकारोपरागोच्छित्तिः । क्षणिकत्वादिदोषात् ।

पदा०—(क्षणिकत्वादिदोषात्) क्षणिकादिदोषों से (आकारोपरागोच्छित्तिः) वासनारूप सम्बन्ध का नाश भी मुक्ति (न) नहीं होसकती ।

भाष्य—क्षणिकविज्ञानवादियों के मत में राग का नाश भी स्थायी नहीं अर्थात् दूसरे क्षण में वह नाश स्थिर न रहेगा इसलिये वह भी मुक्ति नहीं होसकता ।

सं०—अब सर्वनाशरूपी निर्वाणमुक्ति का खण्डन करते हैं:—

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् । ७८ ।

पद०—न । सर्वोच्छित्तिः । अपुरुषार्थत्वादिदोषात् ।

पदा०—(अपुरुषार्थत्वादिदोषात्) अपुरुषार्थत्वादि दोषों के पाएजाने से (सर्वोच्छित्तिः) सबका नाश भी मुक्ति (न) नहीं होसकती ।

भाष्य—उक्त मुक्ति इसलिये ठीक नहीं कि इसमें पुरुष का कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता प्रत्युत उलटा नाश होता है ।

सं०—अब शून्यवादी की मुक्ति का खण्डन करते हैं :-

एवं शून्यमपि । ७९ ।

पद०—एवं । शून्यं । अपि ।

पदा०—(एवं) उक्त प्रकार से (शून्यं) शून्य भी (अपि) मुक्ति नहीं होसक्ती ।

सं०—ननु, देशविशेषादि की प्राप्ति को मुक्ति मानने में क्या दोष ? उत्तर :-

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि । ८० ।

पद०—संयोगाः । च । वियोगान्ताः । इति । न । देशादिलाभः । अपि ।

पदा०—(च) और (संयोगाः) संयोगों का (वियोगान्ताः) अवश्य वियोग होता है (इति) इसलिये (देशादिलाभः) देशादिकों की प्राप्ति (अपि) भी मुक्ति (न) नहीं होसक्ती ।

सं०—ननु, अंशाअंशीभावरूप सम्बन्ध का नाम मुक्ति मानने में क्या दोष ? उत्तर :-

न भागियोगो भागस्य । ८१ ।

पद०—न । भागियोगः । भागस्य ।

पदा०—(भागस्य) अंशरूप जीव की (भागियोगः) अंशी ईश्वर के साथ अभेदरूपमुक्ति (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य—भाव यह है कि जीव, ईश्वर दोनों निरवयव होने के कारण उनका परस्पर मिल जाना मुक्ति नहीं होसक्ती और जिन वाक्यों में जीव को अंशी कथन किया गया है वह कथन एक देशी के अभिप्राय से है वास्तव नहीं । यदि जीव, ईश्वर का वस्तुतः अंशाअंशीभाव माना जाय तो सावयव होने से अनित्यत्वादि दोषों की प्राप्ति होगी इसलिये जीव को ईश्वर का अंश मानना ठीक नहीं और उसका ईश्वर के साथ तद्रूप होना मुक्ति नहीं होसक्ता ।

सं०—अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति को मुक्ति मानने में क्या दोष ? उत्तर :-

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात्तदुच्छित्तेरितरयोगवत् । ८२ ।

पद०—न । अणिमादियोगः । अपि । अवश्यंभावित्वात् । तदुच्छित्तेः । इतरयोगवत् ।

पदा०—(अणिमादियोगः)अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति (अपि) भी (न) मुक्ति नहीं होसकती क्योंकि (इतरयोगवत्) अन्य ऐश्वर्य की भांति (तदुच्छित्तेः) उनका नाश (अवश्यंभावित्वात्) अवश्य होता है ।

भाष्य—जिसप्रकार राज्यादि ऐश्वर्य्य की प्राप्ति नाशरूप होने से मुक्ति नहीं होसकती इसीप्रकार अणिमा, महिमादि सिद्धियों की प्राप्ति भी मुक्ति नहीं होसकती ।

सं०—ननु, इन्द्रादिपद की प्राप्ति को मुक्ति मानने में क्या दोष ? उत्तरः—

नेन्द्रादिपदयोगोऽपितद्वत् । ८३ ।

पद०—न । इन्द्रादिपदयोगः । अपि । तद्वत् ।

पदा०—(तद्वत्) अणिमादि सिद्धियों की भांति नाशरूप होने से (इन्द्रादिपदयोगः) इन्द्रादिपद की प्राप्ति (अपि) भी मुक्ति (न) नहीं होसकती ।

भाष्य—इन्द्रादिपद की प्राप्ति मुक्ति इसलिये नहीं होसकती कि उक्त ऐश्वर्यों में ईश्वर के आनन्द का अनुभव नहीं होता और ना ही परवैराग्यद्वारा प्रकृति के गुणाधिकार की समाप्ति होती है इस अभिप्राय से सब अवैदिक मुक्तियों का खण्डन कियागया है और वैदिक मुक्ति जिसको सां० ४ । ८४ में वर्णन कर आए हैं और जिसका वर्णन सां०६ । ९ में इसप्रकार है कि परमात्मा के आनन्द का उपभोग तथा प्राकृत दुःखों की निवृत्ति ही मुक्ति है जैसाकि "आनन्दंब्रह्मणोविद्वान्नविभेतिकुतश्चन" तैत्ति० २ । ३

इत्यादि वाक्यों में वर्णन कियागया है । इसलिये उक्त मुक्तियों का खण्डन अनित्यत्व के अभिप्राय से नहीं किन्तु प्राकृत ऐश्वर्य्य के अभिप्राय से है ।

सं०—अब इन्द्रियों के भौतिक होने का खण्डन करते हैं :—

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः । ८४ ।

पद०—न । भूतप्रकृतित्वम् । इन्द्रियाणाम् । आहंकारिकत्वश्रुतेः ।

पदा०—(आहंकारिकत्वश्रुतेः)अहंकारद्वारा उत्पत्ति पाएजाने से (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रिय (भूतप्रकृतित्वम्) भूतों के कार्य्य (न) नहीं होसकते ।

सं०—अब स्वस्वरूप की शुद्धि और ईश्वर के धर्मों की प्राप्तिरूप मुक्ति का स्पष्ट करने के लिये उसके बहिरङ्ग साधनों का खण्डन करते हैं :—

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः । ८५ ।

पद०—न । षट्पदार्थनियमः । तद्बोधात् । मुक्तिः ।

पदा०—(तद्बोधात्, मुक्तिः) जिनके बोध से मुक्ति होती है (न षट्पदार्थनियमः) उनके षट्पदार्थ होने का ही नियम नहीं ।

भाष्य—मुक्ति का अन्तरङ्गसाधन प्रकृति पुरुष का विवेक है, इसलिये षट्पदार्थों का ही नियम नहीं, इस कथन से यहां षट्पदार्थों का खण्डन नहीं किया किन्तु यह अभिप्राय है कि षट्पदार्थों का ज्ञान मुक्ति का अन्तरङ्गसाधन नहीं, सांख्य तथा योगमत में मुक्ति का अन्तरङ्गसाधन विवेक, परवैराग्य और धर्ममेघ समाधि है जिसका वर्णन यो० ४।२९ में भलेप्रकार कियागया है ।

ननु–तुम्हारे मत में तो शास्त्रों का अविरोध है फिर यहां वैशेषिकों का खण्डन क्यों कियागया? उत्तर–सांख्य तथा योग उस अवस्था का वर्णन करते हैं जिसका वर्णन करना वैशेषिकादिशास्त्रों का उद्देश्य नहीं अर्थात् सांख्य,योग मुक्ति के अन्तरङ्ग साधनों का वर्णन करते हैं और न्याय तथा वैशेषिक बहिरङ्गसाधनों का, इसलिये कोई विरोध नहीं।

सं०–अब उक्त सिद्धान्त का षोडश पदार्थों में अतिदेश करते हैं:–

षोड़शादिष्वप्येवम् ।८६।

पद०–षोडशादिषु । अपि । एवम् ।

पदा०–(एवम्) इसीप्रकार (षोडशादिषु) षोडशादि पदार्थों के ज्ञान से (अपि) भी मुक्ति नहीं होसकती।

भाष्य–भाव यह है कि प्रमाण, प्रमेयादि षोडश पदार्थों का ज्ञान भी मुक्ति का अन्तरङ्ग साधन नहीं।

सं०–अब त्रसरेणुओं की नित्यता का खण्डन करते हैं:–

नाणुनित्यतातत्कार्य्यत्वश्रुतेः ।८७।

पद०–न । अणुनित्यता । तत्कार्य्यत्वश्रुतेः ।

पदा०–(तत्कार्य्यत्वश्रुतेः) प्रकृति का कार्य्य होने से (अणुनित्यता) त्रसरेणु नित्य (न) नहीं होसकते।

सं०–ननु, निरवयव अणु अनित्य कैसे? उत्तर:–

न निर्भागत्वंकार्य्यत्वात् ।८८।

पद०–न । निर्भागत्वं । कार्य्यत्वात् ।

पदा०–(कार्य्यत्वात्) कार्य्यरूप होने से त्रसरेणु (निर्भागत्वं) निरवयव (न) नहीं होसकते।

भाष्य–जिसप्रकार कार्य्यरूप होने से घटादि पदार्थ सावयव हैं इसीप्रकार त्रसरेणु भी कार्य्यरूप होने से सावयव हैं। यहां त्रसरेणुओं की नित्यता का खण्डन है परमाणुओं की नित्यता का नहीं।

ननु–इसका क्या प्रमाण कि परमाणुओं की नित्यता का खण्डन नहीं? उत्तर–शास्त्रकार कहीं २ प्रक्रिया भेद तो करते हैं परन्तु एक दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन नहीं करते जैसाकि वैशेषिक भूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानता है और सांख्य अहङ्कार से, और योग पञ्चतन्मात्रों को महत्तत्त्व का कार्य्य मानता है और सांख्य पञ्चतन्मात्रोंको अहङ्कार का कार्य्य मानता है,इस प्रकार कईएक स्थलों में प्रक्रिया भेद तो है परन्तु परस्पर सिद्धान्तों का खण्डन नहीं। षट्शास्त्रों के सिद्धान्तों के मिलाप में मुख्य प्रमाण यह है कि सब शास्त्रकार वेद को अपौरुषेय मानते हैं, ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं, जीव की ऊंच नीच गति का कारण कर्मों को मानते हैं, और जगत् का उपादान कारण प्रकृति को मानते हैं। जिसको सांख्य, योग, वेदान्त, प्रकृति कहते हैं उसको वैशेषिक गोतम और मीमांसक परमाणु नाम से कथन करते हैं, जिससे सूक्ष्म कारण की अवस्था न होसके उसको "परमाणु" कहते हैं उसीका नाम प्रकृति है जैसाकि:–

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अन्ह आसीत्प्रकेतः।
अनीदवातं स्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किञ्चनास॥

ऋ० १० । ११ । १२९ । २ इत्यादि वेद मंत्रों में वर्णन किया है कि प्रलय काल में न मृत्यु था, न अमृत था और न दिन रात्रि के चिन्ह सूर्य्य चन्द्रमा थे उस समय एक चैतन्यस्वरूपपरमात्मा प्रकृति को अपनी सत्तारूपी चेष्टा से आश्रय कर रहा था। इस मंत्र में स्वधा नाम प्रकृति का है, यहां पर सब दर्शनकारों का एक

मत है क्योंकि प्रकृति की सत्ता को सब स्वीकार करते हैं, जब इस प्रकार दर्शनों का ऐक्य है तो फिर अणुओं के खण्डन से परमाणुओं का खण्डन कैसे समझाजाय, अतएव यहां अणु शब्द से त्रसरेणुओं का ग्रहण है परमाणुओं का नहीं और उनकी अनित्यता सब शास्त्रकारों को अभिमत है।

सं०—अब द्रव्यों के प्रत्यक्ष में रूप की कारणता का खण्डन करते हैं :—

न रूपनिबन्धनात्प्रत्यक्षनियमः । ८९ ।

पद०—न । रूपनिबन्धनात् । प्रत्यक्षनियमः ।

पदा०—(रूपनिबन्धनात्) केवल रूप से (प्रत्यक्षनियमः) प्रत्यक्ष होने का नियम (न) नहीं ।

भाष्य—बाह्य द्रव्यों के प्रत्यक्ष में केवल रूप ही कारण है यह नियम नहीं,यदि ऐसा होता तो द्व्यणुकादिकों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये, पर उनका प्रत्यक्ष न होने से बाह्य द्रव्य के प्रत्यक्ष में उद्भूतरूप तथा महत्त्वादि कारण हैं, अतएव द्रव्यों के प्रत्यक्ष में रूप कारण नहीं होसक्ता ।

सं०—अब चार प्रकार के परिमाण का अनियम कथन करते हैं :—

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् । ९० ।

पद०—न । परिमाणचातुर्विध्यं । द्वाभ्यां । तद्योगात् ।

पदा०—(द्वाभ्यां) दो परिमाणों से ही (तद्योगात्) व्यवहार की सिद्धि होने से (परिमाणचातुर्विध्यं) चार परिमाणों का मानना ठीक (न) नहीं ।

भाष्य—कई लोग अणु, महत, दीर्घ, ह्रस्व, यह चार प्रकार का परिमाण मानते हैं, परन्तु अणु तथा महत परिमाण के मानने से ही सब व्यवहार की सिद्धि होजाती है, इसलिये चार का मानना निरर्थक है ।

भाव यह है कि मध्यमादि परिमाणों की भांति ह्रस्व तथा दीर्घ भी अणु और महत् का अवान्तर भेद होने से यहां भी प्रक्रिया भेद है सिद्धान्त भेद नहीं ।

सं०—अब पूर्वपक्षी सामान्य = जाति को प्रकृति से भिन्न सिद्ध करता है :—

अनित्यत्वेऽपिस्थिरतायोगात्प्रत्यभिज्ञानं-सामान्यस्य । ९१ ।

पद०—अनित्यत्वे । अपि । स्थिरतायोगात् । प्रत्यभिज्ञानम् । सामान्यस्य ।

पदा०—(अनित्यत्वे) घटादि पदार्थों के अनित्य होनेपर (अपि) भी (स्थिरतायोगात्) उनकी स्थिरता के सम्बन्ध से (सामान्यस्य) सामान्य की (प्रत्यभिज्ञानम्) प्रत्यभिज्ञा होती है ।

भाष्य—घटादि पदार्थों के नाश होनेपर भी जो घटान्तरों में अनुगत प्रत्यय बना रहता है कि अयंघटः = यह घट है, इससे पाया जाता है कि सामान्य पदार्थान्तर है ।

सं०—ननु, प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिमूलक रहो, उस से सामान्य की सिद्धि कैसे ? उत्तर :—

न तदपलापस्तस्मात् । ९२ ।

पद०—न । तदपलापः । तस्मात् ।

पदा०-(तस्मात्) उक्तप्रत्यभिज्ञारूप हेतु से (तदपलापः) सामान्य भ्रान्तिमूलक (न) नहीं होसक्ता ।

सं०-ननु, सामान्य को अन्योन्याभावरूप मान लेंगे फिर पदार्थान्तर मानने की क्या आवश्यकता है ? उत्तर :-

नान्यनिवृत्तिरूपत्वंभावप्रतीतेः । ९३ ।

पद०-न । अन्यनिवृत्तिरूपत्वं । भावप्रतीतेः ।

पदा०-(भावप्रतीतेः) भावरूप की प्रतीति होने से (अन्यनिवृत्तिरूपत्वं) सामान्य अन्यपदार्थ का अभावरूप (न) नहीं होसकता।

सं०-अब उक्त तीन सूत्रों में किये हुए पूर्वपक्ष का उत्तर कथन करते हैं :-

न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः । ९४।

पद०-न । तत्त्वान्तरं । सादृश्यं । प्रत्यक्षोपलब्धेः ।

पदा०-(प्रत्यक्षोपलब्धेः) प्रत्यक्ष से प्राकृतरूप की उपलब्धि होने से (सादृश्यं) सामान्य (तत्त्वान्तरं) पदार्थान्तर (न) नहीं ।

भाष्य-सामान्य पदार्थान्तर इसलिये नहीं होसकता कि उसकी उपलब्धि प्रकृति के कार्य्यों से भिन्न नहीं, जैसाकि **सोऽयंघटः** = यह वह घट है, यहां प्रकृतिरूप की ही प्रतीति है किसी पदार्थान्तर की नहीं ।

सं०-अब प्रकृति से भिन्न सामान्य के पदार्थान्तर न होने में और युक्ति कहते हैं :—

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वावैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः । ९५ ।

पद०-निजशक्त्यभिव्यक्तिः । वा । वैशिष्ट्यात् । तदुपलब्धेः ।

पदा०-(तदुपलब्धेः) सामान्य की प्रतीति होने से (वा) अथवा (वैशिष्ट्यात्) पदार्थ और उस शक्ति के मिलाप से (निजशक्त्यभिव्यक्तिः) प्राकृत शक्ति की अभिव्यक्ति का नाम ही सामान्य है ।

भाष्य-एक घटको देखकर सादृश्य से जो यह ज्ञान होता है कि **सोऽयंघटः** = यह वही घट है अर्थात् इसमें भी घटत्वजाति है । यह ज्ञान प्राकृत शक्ति की विशिष्टता से होता है इसलिये सामान्य पदार्थान्तर नहीं ।

सं०-अब सामान्य के पदार्थान्तर होने का अन्यप्रकार से खण्डन करते हैं :—

न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि । ९६ ।

पद०-न । संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः । अपि ।

पदा०-(संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः) संज्ञासांज्ञि के सम्बन्ध से (अपि) भी सामान्य पदार्थान्तर (न) नहीं होसकता ।

भाष्य-यदि सामान्य व्यक्ति से भिन्न मानाजाय तो उसके सम्बन्ध का निर्वचन करना पड़ेगा कि उसका सम्बन्ध क्या है, यदि वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध मानाजाय तो वह भी नहीं बन सकता क्योंकि वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध व्यक्ति और उसके वाचक का होता है जैसाकि घट की व्यक्ति वाच्य और घट शब्द उसका वाचक है, यह सम्बन्ध इसलिये नहीं बनसकता कि व्यक्ति के अनित्य होने से उसका सम्बन्ध वाचक पद के साथ नहीं रहता ।

सं०-ननु, हम सम्बन्ध को नित्य मानलेंगे ? उत्तरः—

न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात् । ९७ ।

पद०—न । सम्बन्धनित्यता । उभयानित्यत्वात् ।

पदा०—(उभयानित्यत्वात्) दोनों के अनित्य होने से (सम्बन्ध नित्यता) सम्बन्ध की नित्यता (न) नहीं होसक्ती ।

भाष्य—जब घटादि कार्य्यपदार्थ अपने कारण में लय होजाते हैं तो उनके बाचक शब्द का भी अर्थ न रहने से उसकी भी अनित्यता पाई जाती है, अतएव दोनों अनित्य होने से सम्बन्ध को नित्य मानना ठीक नहीं ।

सं०—ननु, जिसप्रकार नित्यपदार्थों का सम्बन्ध भी नित्य होता है इसीप्रकार सम्बन्ध की नित्यता सत्कार्य्यवाद के अभिप्राय से होसक्ती है ? उत्तर :—

नाजःसम्बन्धोधर्मिग्राहकमानबाधात् ।९८।

पद०—न । अजः । सम्बन्धः । धर्मिग्राहकमानबाधात् ।

पदा०—(धर्मिग्राहकमानबाधात्) धर्मि = सम्बन्ध में कोई प्रमाण न पाएजाने से (अजः, सम्बन्धः) उत्पन्न न होनेवाला सम्बन्ध (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—प्रथम न होकर जो हो उसका नाम "सम्बन्ध" है, अर्थात् जिसका प्रथम विभाग हो उसी का फिर सम्बन्ध होता है । इसलिये अजों के सम्बन्ध को नित्यमानना ठीक नहीं ।

सं०—ननु, जाति और व्यक्ति का समवाय सम्बन्ध मानने में क्या दोष ? उत्तर :—

न समवायोऽस्तिप्रमाणाभावात् । ९९ ।

पद०—न । समवायः । अस्ति । प्रमाणाभावात् ।

पदा०—(प्रमाणाभावात्) कोई प्रमाण न पाएजानेसे(समवायः, अस्ति) जाति और व्यक्ति का समवाय सम्बन्ध (न) नहीं होसक्ता ।

सं०—ननु, प्रत्यक्ष और अनुमान मानने में क्या दोष ? उत्तरः—

उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्नप्रत्यक्षमनुमानं वा । १०० ।

पद०—उभयत्र । अपि । अन्यथा । सिद्धेः । न । प्रत्यक्षं । अनुमानं । वा ।

पदा०—(उभयत्र) समवाय के प्रत्यक्ष तथा अनुमान विषय में (अन्यथा, सिद्धेः) स्वरूप सम्बन्धद्वारा सिद्धि होने से (अपि) भी जाति व्यक्ति के समवाय में प्रत्यक्ष (वा) अथवा अनुमानप्रमाण (न) नहीं होसक्ते ।

सं०—ननु, जाति व्यक्ति का समवाय अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध न हो पर क्रिया और क्रियावाले का समवाय तो अनुमान से सिद्ध होसक्ता है ? उत्तर :—

नानुमेयत्वमेवक्रियायानेदिष्ठस्यतत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः । १०१ ।

पद०—न । अनुमेयत्वं । एव । क्रियाया । नेदिष्ठस्य । तत् । तद्वतोः । एव । अपरोक्षप्रतीतेः ।

पदा०—(नेदिष्ठस्य) अतिनिकटवर्त्ति जो पुरुष है उसको (क्रियाया) क्रिया का (अनुमेयत्व) अनुमान (न) नहीं होता किन्तु (एव) निश्चय करके (तद्वतोः) क्रिया और क्रियावाले की (अपरोक्षप्रतीतेः) अपरोक्षप्रतीति से (तत्) स्वरूप सम्बन्ध का ज्ञान होता है समवाय का नहीं ।

भाष्य—सांख्यसिद्धान्त में प्रकृति पुरुष से भिन्न जाति कोई

पदार्थ नहीं, प्रकृति की शक्ति का नाम ही जाति है इसलिये जाति, व्यक्ति और क्रिया क्रियावाले का जो समवाय मानागया है वह ठीक नहीं क्योंकि जब जाति आदि व्यक्ति से भिन्न पदार्थ ही नहीं तो उनका समवाय कैसे होसकता है इसलिये समवाय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान नहीं होसकते और जो क्रिया क्रियावाले में समवाय की प्रतीति मानी गई है वहां भी प्रत्यक्ष से स्वरूप सम्बन्ध की ही सिद्धि होती है समवाय की नहीं ।

भाव यह है कि जब सांख्य सिद्धान्त में प्रकृति पुरुष से भिन्न कोई पदार्थ नहीं तो फिर जाति पदार्थान्तर कैसे होसकती है क्योंकि "प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्" सां० ५ । ७२ में यह स्पष्ट करदिया है कि प्रकृति पुरुष से भिन्न कोई पदार्थान्तर नहीं, इसप्रकार विचार करने से जाति व्यक्ति और क्रिया, क्रियावाले का जो समवाय मानागया है वह सांख्यसिद्धान्त में स्थिर नहीं ठहर सकता क्योंकि जाति आदि व्यक्ति के स्वरूप से भिन्न कोई पदार्थ नहीं इसलिये स्वरूप सम्बन्ध ही मानना ठीक है समवाय नहीं ।

सं०—अब स्थूल शरीर का वर्णन करते हैं :—

न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् । १०२ ।

पद०—न । पाञ्चभौतिकं । शरीरं । बहूनां । उपादानायोगात् ।

पदा०—(शरीरं) शरीर (पाञ्चभौतिकं) पांच भूतों का (न) नहीं क्योंकि (बहूनां, उपादानायोगात्) बहुत पदार्थ एक कार्य्य के उपादान कारण नहीं होते ।

भाष्य—इस शरीर का मुख्यतया पृथिवी ही उपादान कारण है इसलिये अन्यभूतों की उपादानता का खण्डन किया गया है ।

ननु—तृतीयाध्याय में शरीर को पञ्चभौतिक माना गया है और यहां उसका खण्डन किया है, यह परस्पर विरोध क्यों ? उत्तर— वहां शरीर विषयक भिन्न२मतों का वर्णन किया गया है और यहां एक उपादान कारण की मुख्यता के अभिप्राय से निजमत कथन किया है इसलिये विरोध नहीं ।

सं०—ननु, यह स्थूल शरीर ही सुख दुःख का भोक्ता है फिर शरीरान्तर मानने की क्या आवश्यकता ? उत्तर :—

नस्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् । १०३ ।

पद०—न । स्थूलं । इति । नियमः । आतिवाहिकस्य । अपि । विद्यमानत्वात् ।

पदा०—(आतिवाहिकस्य) लिङ्गशरीर के (अपि) भी (विद्यमानत्वात्) विद्यमान होने से (स्थूलं) स्थूल शरीर ही है (इति, नियमः) यह नियम (न) नहीं ।

भाष्य—आतिवाहिक शरीर जो पुरुष को जन्मान्तर को प्राप्त कराता है वह स्थूल शरीर से भिन्न है, केवल स्थूल शरीर ही है यह मत चार्वाक का है ।

सं०—अब इस बात को सिद्ध करते हैं कि जब विषय इन्द्रिय देश को प्राप्त होता है तभी इन्द्रिय उसके प्रकाशक होते हैं :—

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा । १०४ ।

पद०—न । अप्राप्तप्रकाशकत्वं । इन्द्रियाणां । अप्राप्तेः । सर्वप्राप्तेः । वा ।

पदा०-(इन्द्रियाणां) इन्द्रियों का (अप्राप्तप्रकाशकत्वं) अप्राप्त पदार्थ को प्रकाश करने का धर्म नहीं (अप्राप्तेः) क्योंकि पदार्थ के प्राप्त न होनेपर प्रकाश नहीं होता (वा) और (सर्वप्राप्तेः) सर्वथा प्राप्त होनेपर ज्ञान होता है।

भाष्य-श्रोत्र बाहर जाकर शब्द को ग्रहण नहीं करता किन्तु वीचितरङ्गन्याय से जब शब्द वायुद्वारा श्रोत्र इन्द्रिय के गोलक तक पहुंच जाता है तब श्रोत्र उसका ग्राहक होता है, इसी प्रकार अपने २ गन्धादि विषयों को सर्व इन्द्रिय स्वदेश को प्राप्त होने से ही ग्रहण करते हैं, यदि इन्द्रियों के गोलक और विषय में कोई व्यवधान हो तो कोई इन्द्रिय भी अपने २ विषय को ग्रहण नहीं कर सक्के, इसीलिये कहा है कि सर्वप्राप्तेः = भले प्रकार प्राप्त होने पर ही इन्द्रिय अपने विषयों के ग्राहक होते हैं अन्यथा नहीं।

सं०-ननु, चक्षुः इन्द्रिय तैजस है इसलिये सूर्य्य की किरणों के समान दूरदेश में जाकर विषय का प्रकाश कर सक्ता है फिर इन्द्रियदेश में ही विषय की प्राप्ति मानने की क्या आवश्यकता? उत्तरः-

न तेजोऽपसर्पणात्तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः। १०५।

पद०-न। तेजोपसर्पणात्। तैजसं। चक्षुः। वृत्तितः। तत्सिद्धेः।

पदा०-(वृत्तितः) चक्षु की वृत्तिद्वारा (तत्सिद्धेः) विषय के प्रकाश की सिद्धि होने से (तैजसं, चक्षुः) तेज का कार्य्य चक्षु (तेजोपसर्पणात्) तेज के बाहर निकलने से विषय का ग्रहण (न) नहीं करता।

भाष्य-चक्षु इन्द्रिय का तेज बाहर निकलकर विषय का प्रकाशक होता है, यह ठीक नहीं क्योंकि चक्षु की वृत्ति से विषय का प्रकाश होता है चक्षु के बाहर जाने से नहीं अर्थात् चक्षु देश में आकर जब विषय प्रतिविम्बित होता है तब चक्षु उस का प्रकाश करता है।

सं०-ननु, वृत्ति के मानने में क्या प्रमाण? उत्तरः-

प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद्वृत्तिसिद्धिः। १०६।

पद०-प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गात्। वृत्तिसिद्धिः।

पदा०-(प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गात्) प्राप्त पदार्थ को प्रकाश करने के कारण (वृत्तिसिद्धिः) वृत्ति की सिद्धि होती है।

भाष्य-जब विषय इन्द्रिय के गोलक को प्राप्त होता है तब इन्द्रिय उसके प्रकाशक होते हैं, इससे पायाजाता है कि इन्द्रियों की वृत्ति से विषय का प्रकाश होता है, और यदि वृत्ति न मानीजाय तो पुरुष सन्मुख देखता हुआ भी कहता है कि मैंने नहीं देखा, उस समय उसको उसवस्तु का ज्ञान होना चाहिये पर उसकी वृत्ति उस समय पदार्थाकार नहीं हुई इसलिये उसको ज्ञान नहीं होता, अन्तःकरण के परिणाम विशेष का नाम "वृत्ति" है अथवा विषय का इन्द्रिय देश में आकर प्रतिबिम्बित होना तथा तदाकार अन्तःकरण के परिणाम विशेष को "वृत्ति" कहते हैं।

नवीन ग्रन्थों में वृत्ति को इसप्रकार वर्णन किया है कि जिस प्रकार किसी कूप का जल किसी नाली द्वारा क्षेत्र में प्रविष्ट होकर क्षेत्र के आकार को धारण करलेता है इसी प्रकार अन्तःकरण का परिणामविशेषवृत्ति अन्तःकरण से निकलकर इन्द्रियरूपी नाली द्वारा क्षेत्ररूपी विषयदेश में जाकर विषयाकार होजाती है और

आधुनिक वेदान्ति अन्तःकरण तथा अज्ञान के परिणाम को वृत्ति कहते हैं, अस्तु यह प्रकरणान्तर है प्रकृत यह है कि अन्तःकरण के विषयाकार होने का नाम "वृत्ति" है।

सं०–ननु, वृत्ति अन्तःकरण का विभाग है, अथवा गुण है? उत्तरः–

भागगुणाभ्यांतत्त्वान्तरंवृत्तिःसम्बन्धार्थं सर्पतीति। १०७।

पद०–भागगुणाभ्यां। तत्त्वान्तरं। वृत्तिः। सम्बन्धार्थं। सर्पति। इति।

पदा०–(भागगुणाभ्यां) भाग और गुण दोनों से (वृत्तिः) वृत्ति (तत्त्वान्तरं) पदार्थान्तर है क्योंकि वह पदार्थ के (सम्बन्धार्थं) सम्बन्ध के लिये (सर्पति) क्रिया करती है (इति) इसलिये वह चक्षुः आदि इन्द्रियों का भाग नहीं।

भाष्य–वृत्ति अग्निविस्फुलिङ्ग के समान किसी इन्द्रिय का भाग नहीं और न कोई गुण है, विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध का प्रयोजक जो अन्तःकरण का परिणाम है उसका नाम वृत्ति है अथवा शब्दादि विषयों का जो इन्द्रियदेश में वर्त्तना है उसका नाम वृत्ति है क्योंकि श्रोत्रादि इन्द्रिय शब्दादि विषयों को ग्रहण करने के लिये कहीं बाहर नहीं जाते, उन विषयों का इन्द्रियदेश में वर्त्तना पायाजाता है और जो सूत्र में "सम्बन्धार्थसर्पति" कहा है, वह क्रिया के अभिप्राय से है किसी बहिर्देश में जाने के अभिप्राय से नहीं, एवं विवेक करने से वृत्ति अन्तःकरण का परिणाम विशेष ही सिद्ध होती है पदार्थान्तर नहीं।

सं०–ननु, चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध तब माना जासकता है जब उनको द्रव्य मानाजाय और वह अहङ्कार के कार्य्य हैं इसलिये उनका विषय के साथ संयोग कैसे होसकता है? उत्तरः–

नद्रव्यनियमस्तद्योगात्। १०८।

पद०–न। द्रव्यनियमः। तद्योगात्।

पदा०–(तद्योगात्) विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध पाएजाने से ज्ञात होता है कि यह दोनों द्रव्य हैं क्योंकि हमारे मत में (द्रव्यनियमः) द्रव्य का नियम (न) नहीं।

भाष्य–सांख्यमत में यह नियम नहीं कि पृथिवी आदिकों को ही द्रव्य मानाजाय किन्तु जिनका संयोग होता है वह द्रव्य ही होते हैं और विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से पायाजाता है कि यह दोनों द्रव्य हैं जैसाकि योगशास्त्र में धर्मधर्मि का अभेदरूप जो सामान्य विशेष का समुदाय है वह द्रव्य है और वैशेषिकमत में इनके आश्रय का नाम द्रव्य है इसलिये इनके संयोग मानने में कोई बाधा नहीं।

सं०–ननु, सांख्यसिद्धान्त में इन्द्रियों को अहङ्कार का कार्य्य माना है, और चक्षु रूप को ग्रहण करते हैं तथा घ्राण गन्धको, इत्यादि नियमों से इनको पृथिवी आदि भूतों का कार्य्य क्यों न माना जाय? उत्तर:–

न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः। १०९।

पद०–न। देशभेदे। अपि। अन्योपादानता। अस्मदादिवत्। नियमः।

पदा०–(देशभेदे, अपि) इन्द्रियों का ग्राह्यविषयों के साथ भेद

होने पर भी (अस्मदादिवत्) हमारे शरीरों के समान (अन्योपादनता) इन्द्रियों की भिन्न २ उपादानता का (नियमः) नियम (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य–जिस प्रकार अस्मदादिकों के स्थूल शरीर सबदेश और सब कालों में भौतिक होते हैं इसी प्रकार रूप रसादिकों को ग्रहण करने वाले सब इन्द्रिय भी अहङ्कार के कार्य्य होते हैं,भिन्न २ उपादान वाले नहीं ।

सं०–ननु,अन्य शास्त्रों में इन्द्रियों को भूतों का कार्य्य क्यों माना है ? उत्तर :–

निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः । ११० ।

पद०–निमित्तव्यपदेशात् । तद्व्यपदेशः ।

पदा०–(निमित्तव्यपदेशात्) निमित्त होने के कारण (तद्व्यपदेशः) भौतिक होने का कथन है ।

भाष्य–जिस प्रकार इन्धन से वन्हि की उत्पत्ति का कथन किया जाता है परन्तु वास्तव में अग्नि इन्धन से उत्पन्न नहीं होती इसी प्रकार वास्तव में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहङ्कार से है और भूतों से अग्नि इन्धन के समान निमित्तमात्र से कही गई है ।

सं०–अब सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का वर्णन करने के लिये शरीर के भेदों का कथन करते हैं :–

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसाङ्कल्पिकसांसिद्धिकश्चेति न नियमः । १११ ।

पद०–ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसाङ्कल्पिकसांसिद्धिकम् । च । इति । न । नियमः ।

पदा०–(ऊष्मजाण्डज०) ऊष्मज=गरमी से उत्पन्न होने वाले कृमि कीटादि, अण्डज=पक्षी आदि, जरायुज=मनुष्यादि उद्भिज=वृक्षादि, साङ्कल्पिक=आदि सृष्टि में अमैथुनी सृष्टि के अग्नि आदि ऋषियों के शरीर (च) और सांसिद्धिक=योगियों के शरीर, यह छः प्रकार के शरीर हैं (इति) इसलिये चार प्रकार के शरीरों का (नियमः) नियम (न) नहीं ।

भाष्य–सर्वसाधारण पुरुष चार प्रकार के शरीरों का ही भेद जानते हैं इसलिये सूत्रकार ने छ प्रकार के शरीरों का वर्णनकिया है ।

सर्वेषुपृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत् । ११२ ।

पद०–सर्वेषु । पृथिव्युपादानम् । असाधारण्यात् । तद्व्यपदेशः । पूर्ववत् ।

पदा०–(सर्वेषु) उक्त सब शरीरों में (पृथिव्युपादानम्) पृथिवी को उपादानकारण मानने का (असाधारण्यात्) मुख्यता से (तद्व्यपदेशः) कथन पायाजाता है (पूर्ववत्) जैसाकि पूर्व १०२ सूत्र में वर्णन कर आए हैं ।

भाष्य–यहां फिर सब शरीरों को पार्थिव कथन करने का अभिप्राय यह है कि अयोनिज और सांसिद्धिक शरीर भी भौतिक होते हैं किसी अन्य उपादान वाले नहीं जैसाकि मायावादी अपने अवतारों के शरीरों को मायिक मानते हैं और भूत पिशाचादिकों की योनि विशेष माननेवाले लोग भूतादिकों के शरीरों को मायिक मानते हैं, यह उनका सर्वथा अभ्यास और मिथ्या विश्वास है क्योंकि शास्त्रकारों के मत में सब शरीर भौतिक हैं । इसबात को यहां सूत्र-

कार ने स्पष्ट रीति से वर्णन किया है ।

सं०–ननु, जब शरीर भौतिक हैं तो शरीरवर्त्ति प्राणों को भौतिक क्यों न मानाजाय ? उत्तर :—

नदेहारम्भकस्यप्राणत्वमिन्द्रियशक्ति-तस्तत्सिद्धेः । ११३ ।

पद०–न । देहारम्भकस्य । प्राणत्वम् । इन्द्रियशक्तितः । तत्सिद्धेः ।

पदा०–(देहारम्भकस्य) देह को आरम्भ करनेवाला जो भूतों का समुदाय है वह (प्राणत्वं) प्राणों का उत्पादक (न) नहीं होसकता क्योंकि (इन्द्रियशक्तितः) इन्द्रियों को उत्पन्न करनेवाली जो अहङ्काररूप शक्ति उससे (तत्सिद्धेः) प्राणों की सिद्धि पाएजाने से ।

भाष्य–प्राण पञ्चतन्मात्रों के कार्य्य होने से भौतिक नहीं होसक्ते ।

सं०–ननु, उक्त शरीरों को जीव किस समय आश्रयण करता है, क्या गर्भाधान में ही आश्रयण करलेता है अथवा कालान्तर में ? उत्तर :—

भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसङ्गात् । ११४ ।

पद०–भोक्तुः । अधिष्ठानात् । भोगायतननिर्माणं । अन्यथा । पूतिभावप्रसङ्गात् ।

पदा०–(भोक्तुः) भोक्ता जो जीवात्मा है उसके (अधिष्ठानात्) आश्रयण करने से (भोगायतननिर्माणं) भोग के साधन भूत शरीर का निर्माण होता है (अन्यथा) यदि जीव के आश्रयण करने से बिना उसका निर्माण किया जाय तो (पूतिभावप्रसङ्गात्) गलजाने के कारण उसका निर्माण न होसकेगा ।

भाष्य–गर्भाधान समय में जब जीव शरीर के बीजभूत द्रव्य का आश्रयण करलेता है तब शरीर का निर्माण होता है, यदि जीव के बिना ही शरीर का निर्माण हो तो शुक्र शोणित दोनों ही गल जायंगे क्योंकि चेतन के बिना शरीर के बीजभूत शुक्रशोणित स्थिर नहीं रह सकते इसलिये शरीर के बीजाधान समय में ही जीव का प्रवेश होता है पश्चात् नहीं ।

सं०–ननु, जीव तो कूटस्थ नित्य है फिर उसमें शरीर का अधिष्ठातृत्व और भोक्तृत्व कैसे ? उत्तर :—

भृत्यद्वारास्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ।११५।

पद०–भृत्यद्वारा । स्वामी । अधिष्ठितिः । न । एकान्तात् ।

पदा०–(भृत्यद्वारा) लिङ्गशरीररूप भृत्य के द्वारा (स्वामी) स्वामीरूपजीव (अधिष्ठितिः) शरीर का अधिष्ठाता होता है (एकान्तात्) बिना लिङ्गशरीर से शरीर का अधिष्ठाता (न) नहीं होता ।

भाष्य–बुद्धिसत्त्व में तादात्म्य होने से जीव में अधिष्ठातृत्व है वास्तव में नहीं और यह तादात्म्य अविवेक से उत्पन्न होता है ।

सं०–ननु, यदि जीव का अधिष्ठातृत्व बुद्धिसत्त्व के तादात्म्याध्यास से है तो समाधि आदि अवस्थाओं में जीव अपने आपको शरीरादिकों का अधिष्ठाता क्यों नहीं मानता ? उत्तर :–

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता । ११६ ।

पद०–समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु । ब्रह्मरूपता ।

पदा०–(समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु) समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में जीव (ब्रह्मरूपता) ब्रह्म के रूप को धारण करलेता है ।

भाष्य–समाधि आदि अवस्थाओं में जीव अपने आपको शरी-

रादिकों का अधिष्ठाता तथा भोक्ता इसलिये नहीं मानता कि इन अवस्थाओं में वह ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों को अपने में धारण कर लेता है ।

ननु—साधन सम्पन्न होने से समाधि अवस्था में जीव ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों को चित्तवृत्तिनिरोधद्वारा अपने में धारण कर सक्ता है और मोक्ष में तद्धर्मतापत्ति द्वारा ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों को धारण कर सक्ता है पर सुषुप्ति में ब्रह्मरूपता को कैसे धारण कर सक्ता है ? उत्तर—सुषुप्ति अवस्था में जीव का बुद्धि के साथ जो तादात्म्याध्यास है वह गाढ़निद्रादोष से दबकर परमात्मा में उसकी वृत्ति का निरोध होजाता है. इसी अभिप्राय से कहा है कि "सतासोम्य तदासम्पन्नोभवति" छा० ६ । ८ । १ = उस समय परमात्मा के साथ जीव का योग होता है । इसी बात को बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया है कि जीव उस ज्ञानस्वरूप परमात्मा के साथ मिलकर प्राकृत पदार्थों को भूल जाता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में आविद्यक वृत्तियों का सर्वथा निरोध होजाता है और उसको परिपूर्ण परमात्मा का आनन्द भान होने लगता है ।

मायावादियों के मत में सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान का साक्षात् परिणामरूप अविद्या की वृत्ति बनी रहती है इसलिये वह अज्ञान को अनुभव करता है और जागकर यह कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता था । वैदिक मत में " तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम् " यो० १ । ३, इस सूत्र के भावानुकूल जिस प्रकार निर्बीज समाधि में जीव अपने आपको भूलकर एकमात्र परमात्मा के आनन्द को अनुभव करता है इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में भी परमात्मा की

स्वरूपसम्पत्ति से प्रज्ञा और और उसके संस्कारों का निरोध हो-जाता है ।

यह दृष्टान्त करुणासागर परमात्मा ने अपने आनन्दाम्बुधि परिपूरित स्वरूपसागर के अनुभवार्थ जीव को दिखलाया है अतएव सुषुप्ति अवस्था में भी जीव की ब्रह्मरूपता में कोई बाधा नहीं ।

औपनिषद सिद्धान्त में उक्त ब्रह्मरूपता को निम्नलिखित वाक्य इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं कि :-

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमांगतिम् ॥ कठ ६ । १०

" सतासोम्यतदासम्पन्नोभवति " छा० ६ । ८ । १

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत-शोकः । निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति० ॥ मुण्ड० ३ । १ । ३

" ब्रह्मविदाप्नोतिपरम् " तै० २ । १ "आनन्दं ब्रह्मणोवि-द्वान् न बिभेति कदाचन" तै० ४ । १ = जब इन्द्रियों की वृत्ति निरुद्ध होजाती है और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उसका नाम " परमगति " है, उस समय जीव उस सत्पुरुष परमात्मा के साथ तद्धर्मतापत्तिरूप योग से सम्पन्न होजाता है और जब उस परमात्मा के महत्त्व को देखता है तब सब शोकों से रहित होकर उस निरञ्जन पुरुष के भावों को धारण करके ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त होता है और उस आनन्द को अनुभव करता हुआ किसी से भय नहीं करता ।

सं०—ननु, जब उक्त अवस्थाओं में ब्रह्मरूपता होजाती है तो मुक्ति में क्या विशेषता ? उत्तर :-

द्वयोःसबीजमन्यत्रतद्धतिः ।११७।

पद०–द्वयोः । सबीजम् । अन्यत्र । तद्धतिः ।

पदा०–(द्वयोः) समाधि और सुषुप्ति में (सबीजम्) बन्ध का बीज अविद्या बनी रहती है और (अन्यत्र) मुक्ति में (तद्धतिः) उसका नाश होजाता है ।

भाष्य–सुषुप्ति और समाधि में बन्ध के हेतुभूत वासनारूपकर्म बने रहते हैं और मुक्ति में उनका नाश होजाता है इसलिये मुक्ति की विशेषता है ।

सं०–ननु, समाधि और सुषुप्ति की अवस्थाओं को तो जीव जीता ही अनुभव करलेता है पर मुक्तिरूप तीसरी अवस्था में क्या प्रमाण ? उत्तर :–

द्वयोरिवत्रयस्यापिदृष्टत्वान्न तु द्वौ ।११८।

पद०–द्वयोः । इव । त्रयस्य । अपि । दृष्टत्वात् । न । तु । द्वौ ।

पदा०–(द्वयोः, इव) दोनों के समान (त्रयस्य, अपि) तीसरी मुक्ति भी (दृष्टत्वात्) देखेजाने से (न, तु, द्वौ) दोही अवस्था नहीं ।

भाष्य–जिसप्रकार समाधि और सुषुप्ति का पुरुष अनुभव करता है इसीप्रकार मुक्तपुरुष मुक्ति अवस्था का अनुभव करता है जैसाकि "तमेवविदित्वातिमृत्युमेति" यजु० ३१।१८ "उर्वारुकमिवबन्धनात्" यजु०३।६० इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि जीवन्मुक्तपुरुष उसके आनन्द को स्व अनुभव द्वारा भी देखते हैं, इसलिये मुक्ति का मानना आवश्यक है ।

और जो "विमुक्तिप्रशंसामन्दानाम्" सां० ५।६८ के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने यह लिखा है कि मुक्ति में जो आनन्द का कथन कियागया है वह अज्ञानियों का है अर्थात् प्रतारकवाक्यवत् असत्य है । यह लेख सांख्यसिद्धान्त के आशय से सर्वथा विरुद्ध है । यदि मुक्ति का आनन्द मनोरथमात्र और अज्ञानियों के प्ररोचनार्थ होता तो इससूत्र में समाधि के साथ मुक्ति के आनन्द को वर्णन न कियाजाता, कौन नहीं जानता कि समाधि में आनन्द का उपभोग होता है, यदि पाषाणकल्प निरानन्दावस्था का नाम मुक्ति होता तो कोई पुरुष भी उसके लिये उद्यत न होता । इसप्रकार सांख्यशास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ टीकाकारों ने इस शास्त्र को परमात्मा के आनन्द से नीरस करके निरीश्वरवाद का भाव भरदिया है जो वैदिकभाव के साथ सम्मेलन करने से दूर होजाता है ।

सं०–ननु, समाधि अवस्था में क्लेशकर्मादि वासनाओं के कुण्ठित होजाने से सब वृत्तियों के निरोध होजानेपर जीवात्मा को ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव होसक्ता है पर सुषुप्ति अवस्था में ऐसा न होने से ब्रह्मरूपता कैसे ? उत्तर :–

वासनायाऽनर्थख्यापनंदोषयोगेऽपिन निमित्तस्यप्रधानबाधकत्वम् ।११९।

पद०–वासनाया । अनर्थख्यापनं । दोषयोगे । अपि । न । निमित्तस्य । प्रधानबाधकत्वम् ।

पदा०–(प्रधानबाधकत्वम्) प्रधानबाधक होने से (निमित्तस्य) सुषुप्ति आदिकों के प्रति निमित्तभूत (दोषयोगे, अपि) निद्रारूपी दोष के होनेपर भी (वासनाया) कर्मों की वासनायें (अनर्थख्यापनं) आत्मा से भिन्न विषयरूपी अनर्थ की बोधक (न) नहीं होसकतीं ।

भाष्य–जिस प्रकार समाधि अवस्था में सब वासनाओं के निरोध होने से ब्रह्मरूपता होती है इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में भी सब

वासनायें निद्रारूप दोष से कुण्ठित होजाने पर सब वृत्तियों का निरोध होजाता है इसलिये सुषुप्ति अवस्था में भी जीव को सर्व वृत्तिनिरोध द्वारा परमात्मा के आनन्द का अनुभव होता है ।

सं०—ननु, जीवन्मुक्त के विषय में जो तृतीयाध्याय में यह कथन कर आए हैं कि उसका शरीर प्रारब्ध कर्मों को भोगकर क्षय होता है यह ठीक नहीं क्योंकि एक वासनारूपी कर्म से जो क्रिया की सिद्धि होती है वह कर्म और को उत्पन्न कर देगा और वह और को, इस प्रकार संस्कारों का प्रवाह चलता रहेगा फिर उसके जन्म का अभाव कैसे ? उत्तर :—

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्त्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः । १२० ।

पद०—एकः । संस्कारः । क्रियानिर्वर्त्तकः । न । तु । प्रतिक्रियं । संस्कारभेदा । बहुकल्पनाप्रसक्तेः ।

पदा०—(एकः, संस्कारः) एकही संस्कार (क्रियानिर्वर्त्तकः) जीवन्मुक्त की जीवनयात्रा का साधक होसकता है (प्रतिक्रियं) एक २ क्रिया के लिये (संस्कारभेदा) संस्कारों के बहुत भेदों का मानना (न, तु) ठीक नहीं क्योंकि (बहुकल्पनाप्रसक्तेः) ऐसा मानने पर अनेक अनिष्ट कल्पनाएं करनी पड़ेगीं ।

भाष्य—जिस संस्कार से जीवन्मुक्त के शरीर का भोग होरहा है वह एकही उस शरीर के भोग का साधक है । जिसप्रकार कुलाल के चक्र के भ्रमण में एकही वेगरूप संस्कार उसके भ्रमण पर्य्यन्त स्थायी रहता है इसीप्रकार जीवन्मुक्त के एक संस्कार से उसके शरीर का भोग सिद्ध होसकता है नाना संस्कारों की धारा मानना ठीक नहीं ।

सं०—ननु, वाह्यबुद्धि से तो वृक्षादिकों में भी भोगयोनि होना पाया जाता है फिर उनकी स्थावर योनि कैसे ? उत्तर :—

न वाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपिभोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् । १२१ ।

पद०—न । वाह्यबुद्धिनियमः । वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनाम् । अपि । भोक्तृभोगायतनत्वम् । पूर्ववत् ।

पदा०—(वाह्यबुद्धिनियमः) वाह्यबुद्धि से स्थावर शरीरों के भोक्ता होने का नियम (न) नहीं, क्योंकि (वृक्षगुल्मतौषधि०) वृक्षादिकों का (अपि) भी (भोक्तृभोगायतनत्वम्) भोग का साधन होना (पूर्ववत्) सुषुप्ति के समान पाया जाता है ।

भाष्य—वृक्ष = आम्रादि, गुल्म = जिसकी जड़ एक हो और ऊपर से बहुत हों जैसाकि शर आदि, लता=गिलोयआदि, औषधि = ब्रीहि, यवादि, बनस्पति = जङ्गलीवृक्ष, तृण = नण आदि, वीरुध = केवल फूलों वाली लताएं, इत्यादि योनियें भोग का साधन नहीं । वाह्यबुद्धि से अर्थात् आपातदृष्टि से उनमें भोग शरीर होने की प्रतीति होती है, जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में भोग नहीं होता इसी प्रकार वृक्षादिकों के शरीर भोगयोनि नहीं क्योंकि इनकी स्थावर अवस्था है अर्थात् एक प्रकार की जड़ता को प्राप्त हैं और लाजवंती = छुईमुई आदिकों में जो भोग की प्रतीति होती है वह स्पर्शजन्य ऊष्णता से विकृति उत्पन्न होने के कारण क्रिया होती है ज्ञान से नहीं ।

सं०—स्मृति भी इसी बात को सिद्ध करती है :—

स्मृतेश्च । १२२ ।

पद०—स्मृतेः । च ।

पदा०—(स्मृतेः) स्मृति से (च) भी स्थावर शरीरों की सिद्धि पाई जाती है ।

भाष्य—"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" मनु० १२ । ८ = शारीरिक कर्मों के दोष से जीव वृक्षादि जड़ योनियों को प्राप्त होता है ।

सं०—ननु, उक्त योनियों में कर्म करने का अधिकार क्यों नहीं ? उत्तरः—

न देहमात्रतः कर्माधिकारिता वैशिष्ट्यश्रुतेः । १२३ ।

पद०—न । देहमात्रतः । कर्माधिकारिता । वैशिष्ट्यश्रुतेः ।

पदा०—(वैशिष्ट्यश्रुतेः) कर्म करने और भोगने में योनिविशिष्ट जीवों का अधिकार सुना गया है इसलिये (देहमात्रतः) शरीरमात्र से (कर्माधिकारिता) कर्मों में अधिकार उत्पन्न (न) नहीं होता ।

भाष्य—केवल शरीरमात्र से लौकिक वैदिक कर्मों के करने का अधिकार नहीं होता किन्तु जिन योनियों में लौकिक वैदिक कर्मों के करने की योग्यता वेद से सुनी गई है उसी योनि का उक्त कर्म करने में अधिकार है जैसाकि "अग्ने नय सुपथा राये" यजु० ४० । १६ इत्यादि मंत्रों में मनुष्यों ही की योग्यता वैदिकपथ पर चलने की पाई जाती है पशु पक्षी आदिकों की नहीं ।

सं०—ननु, कर्मों का फल देह तो सब का समान है फिर उक्त भेद क्यों ? उत्तर :—

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः । १२४ ।

पद०—त्रिधा । त्रयाणां । व्यवस्था । कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः ।

पदा०—(कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः) कर्मदेहवाले, उपभोगदेहवाले, उभय देहवाले, इस प्रकार (त्रयाणां) तीनों प्रकार के जीवों की (त्रिधा, व्यवस्था) तीन प्रकार से व्यवस्था है ।

भाष्य—उत्तम, मध्यम, मन्द, इस भेद से जीवों की तीन प्रकार की व्यवस्था है, जो उत्तम हैं वह केवल कर्मदेह वाले हैं जैसाकि मुक्त पुरुष, और जो मध्यम हैं वह कर्म और भोगदेह वाले हैं जैसाकि मनुष्य, और जो मन्द हैं वह भोगदेह वाले हैं जैसाकि पशु आदि । यहां मुक्त जीवों में देह शब्द अवस्था के अभिप्राय से आया है जैसाकि स्वरूप के अभिप्राय से शास्त्रों में कहीं २ तनु शब्द आता है और कर्मशब्द स्वतन्त्र क्रिया के अभिप्राय से आया है । मनुष्य कर्म और भोग दोनों प्रकार की देहवाले हैं और पशु आदि केवल भोग योनि हैं कर्मयोनि नहीं, यह विभाग प्रधान के अभिप्राय से है, यों तो मुक्ति के सुख को मुक्तपुरुष भी भोगता है और खानपानादि कर्मों को पशु भी करता है पर ऐसे कर्म और ऐसे भोग की यहां विवक्षा नहीं ।

सं०—ननु, वृक्षादिकों की गणना तो उक्त तीनों देहों में नहीं फिर इनको कर्म भोगादिकों में से कौनसी योनि समझा जाय ? उत्तर :—

न किञ्चिदप्यनुशयिनः । १२५ ।

पद०—न । किञ्चित् । अपि । अनुशयिनः ।

पदा०—(अनुशयिनः) वृक्षादिकों में जो जीव है उसकी (किञ्चित्, अपि, न) कोई भी योनि नहीं ।

भाष्य—वृक्षादिकों का जीव "अनुशयि" कहलाता है, उस जीव का भोगादि देहों में से कोई देह नहीं, यदि भोग देह माना जाय तो शाकपातादि खाने वाले भी हिंसा दोष के भागी होंगे क्योंकि शाकादिकों के काटने समय उनको दुःख का भोग होगा और शास्त्र फलाशी लोगों को हिंसा दोष का भागी नहीं कहता इसलिये उनका कोई देह नहीं, केवल पाषाणकल्पस्थावरअवस्था वाले हैं जैसाकि १२१ वें सूत्र में वर्णन कर आए हैं और इनका अन्तःकरण मूढ़ावस्था को प्राप्त है इसलिये इनको कोई ज्ञान भी नहीं होता।

सं०—ननु,इनका बुद्धि आदि ज्ञान नित्य क्यों नहीं रहता ? उत्तर:—

न बुद्धयादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वन्हिवत्। १२६।

पद०—न। बुद्धयादिनित्यत्वम्। आश्रयविशेषे। अपि। वन्हिवत्।

पदा०—(वन्हिवत्) जिस प्रकार आश्रयविशेष में अग्नि छिपी रहती है इसी प्रकार (आश्रयविशेषे, अपि) आश्रय विशेष में इनका ज्ञान भी छिपा रहता है इसलिये उनका (बुद्धयादिनित्यत्वम्) बुद्धयादि ज्ञान नित्य (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य—यद्यपि उनमें अन्तःकरण भी है पर वह तमोगुण की अधिकता से ऐसी मूढ़ावस्था को प्राप्त हैं जिससे उनके बुद्धि आदि करण वन्हि के समान छिपे हुए हैं इसकारण उनको ज्ञान नहीं होता।

सं०—अब इसी विषय में और युक्ति कथन करते हैं:—

आश्रयासिद्धेश्च। १२७।

पद०—आश्रयासिद्धेः। च।

पदा०—(आश्रयासिद्धेः) चक्षुरादि ज्ञानजन्य इन्द्रियों के गोलकों की असिद्धि होने से (च) भी वृक्षादिक भोग योनि नहीं।

भाष्य—जिसप्रकार अन्य योनियों में भोग के साधन इन्द्रियों के गोलक पाएजाते हैं, इसप्रकार बृक्षादिकों के शरीर में नहीं पाए जाते इसलिये वह भोगादि योनियों में से कोई योनि नहीं।

उक्त १२५वें सूत्र के आधुनिक टीकाकारों ने यह अर्थ किये हैं कि संन्यासी का शरीर कर्मयोनि, भोगयोनि और भोग तथा कर्मयोनि, इन तीनों प्रकार की योनियों में से नहीं। यह अर्थ वेद, शास्त्र, और अनुभव से भी सर्वथा विरुद्ध है, वेद से इस प्रकार विरुद्ध है कि "कुर्वन्नेवेहकर्माणिजिजीविशेच्छतꣳसमाः" यजु० ४०।२ इत्यादि मन्त्रों में सम्पूर्ण आयुपर्य्यन्त कर्मों का करना लिखा है और शास्त्रविरुद्ध इस प्रकार है कि शास्त्रकार संन्यासी को प्रारब्ध कर्मों का भोग होना मानते हैं, और अनुभव विरुद्ध इस प्रकार है कि क्या कोई कहसकता है कि संन्यासी कर्म नहीं करता और कर्मों के फल का भोक्ता नहीं,सूत्र में "अनुशयि" शब्द वृक्षादिकों के लिये आया है संन्यासी के लिये नहीं, अतएव वह अर्थ सर्वथा त्याज्य है।

सं०—अब उपसंहार में योग की सिद्धियों का औषधि आदि दृष्टान्तों से मण्डन करते हैं:—

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः। १२८।

पद०—योगसिद्धयः। अपि। औषधादिसिद्धिवत्। न। अपलपनीयाः।

पदा०—(योगसिद्धयः) योग की सिद्धियें (अपि) भी (औषधादि

सिद्धिवत्) ओषधादिकों की सिद्धि के समान (अपलपनीयाः) खण्डन करने योग्य (न) नहीं।

भाष्य—सांख्य और योग का एक ही मार्ग है इसलिये इस अध्याय की समाप्ति में योग की सिद्धियों को औषधादिकों के दृष्टान्तों से स्पष्ट किया है कि जिसप्रकार इन्द्रियागोचर होने से भी औषध की सिद्धि मानीजाती है इसीप्रकार योग की सिद्धियें भी माननीय हैं। सिद्धियों का औषधादिवत् यथायोग्य माननीय होना योगार्य्यभाष्य के विभूतिपाद में भलेप्रकार वर्णन किया है इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब सांख्यशास्त्र के मुख्य उद्देश्य चेतन की सिद्धि करते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं:—

न भूतचैतन्यंप्रत्येकादृष्टेःसांहत्येऽपि-च सांहत्येऽपि च। १२९।

पद०—न। भूतचैतन्यं। प्रत्येकादृष्टेः। सांहत्ये। अपि। च। सांहत्ये। अपि। च।

पदा०—(प्रत्येकादृष्टेः) एक २ में चेतनता न पाएजाने से (भूतचैतन्यं) भूतों में चेतनता (न) नहीं (च) और उनके (सांहत्ये) समुदाय में (अपि) भी चेतनता नहीं होसकती।

भाष्य—सूत्र में "सांहत्येऽपि च" पद दोवार अध्याय की समाप्ति के लिये आया है।

सांख्यशास्त्र सदसद्विवेचन करता है इसलिये उसका मुख्य प्रयोजन प्रकृति, पुरुष का विवेक है, इसलिये इस अध्याय के अन्त में चार्वाक मत का खण्डन करते हुए जीवात्मा की सिद्धि इसप्रकार

करते हैं कि पृथिवी आदि भूतों की मिलावट से चेतन उत्पन्न नहीं होसकता क्योंकि यदि भूतों की मिलावट से चेतन की उत्पत्ति होती तो पृथक् २ भूत में भी चेतनता होनी चाहिये थी, पर ऐसा नहीं पायाजाता इससे सिद्ध होता है कि भूतों की मिलावट से चेतन की उत्पत्ति नहीं होसकती।

ईश्वर का वर्णन पूर्व अनेक स्थानों में कियागया है इसलिये यहां उसका कथन उपयुक्त न था। यद्यपि जीवात्मा की सिद्धि का कथन तीसरे अध्याय में आचुका है परन्तु यहां उसका कथन करना इसलिये उपयुक्त था कि इस अध्याय में वेद विरोधियों का खण्डन कियागया है इसलिये उनमें से प्रबल चार्वाक का खण्डन करते हुए प्रसङ्ग सङ्गति से यहां जीवात्मा की सिद्धि फिर कीगई है इसलिये पुनरुक्ति नहीं। चार्वाक का खण्डन करना ईश्वर की सिद्धि का उपलक्षण है इसलिये भी यहां ईश्वर का कथन नहीं किया और ११६वें सूत्र में ईश्वर का भलेप्रकार वर्णन कियागया है इसलिये भी यहां आवश्यकता न थी।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे,
सांख्यार्य्यभाष्ये,
पञ्चमोऽध्यायः

ओ३म्

अथ षष्ठाध्यायः प्रारभ्यते

सं०-पूर्व के पांच अध्यायों में जीव, ईश्वर और प्रकृति का विस्तार पूर्वक निरूपण किया और इन तीनों के सम्बन्ध में बन्ध मोक्षादि के कारण अविवेकादि पदार्थों का भी वर्णन कियागया, अब संक्षेप से सबका उपसंहार करने के लिये इस अध्याय का प्रारम्भ करते हैं :—

अस्त्यात्मानास्तित्वसाधनाभावात् । १ ।

पद०-अस्ति । आत्मा । नास्तित्वसाधनाभावात् ।

पदा०-आत्मा (अस्ति) है क्योंकि उसके (नास्तित्वसाधनाभावात्) न होने का कोई साधन नहीं पायाजाता ।

भाष्य-जीवात्मा का अस्तित्व ही आस्तिकधर्म का मूल है इसलिये इस अध्याय में फिर जीवात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए यह वर्णन करते हैं कि जीवात्मा के न होने में कोई हेतु न पाए जाने से ज्ञात होता है कि जीवात्मा है ।

सं०-ननु, नास्तित्व साधन के न होने से जीवात्मा की सिद्धि नहीं पाई जाती, यदि जीवात्मा है तो उसके अस्तित्व में कोई हेतु होना चाहिये ? उत्तर :—

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौवैचित्र्यात् । २ ।

पद०-देहादिव्यतिरिक्तः । असौ । वैचित्र्यात् ।

पदा०-(वैचित्र्यात्) विचित्रता पाए जाने से (असौ) जीवात्मा (देहादिव्यतिरिक्तः) देहादि से भिन्न है ।

भाष्य-जीवात्मा के अस्तित्व में विचित्रता यह है कि उस चेतन शक्ति से ही देह में सर्व सौन्दर्य्य पाए जाते हैं, उससे बिना नहीं और उसको पूर्व अनेक स्थलों में देह से भिन्न सिद्ध कर आए हैं, यदि देह ही चेतन होता तो देह के कारण भूतों में भी पृथक् २ चेतनता पाई जाती पर ऐसा न होने से पाया जाता है कि भूतों का समुदाय देह चैतन्य नहीं उस से भिन्न जीवात्मा चेतन है और सौन्दर्य्य आदि की विचित्रता ही उसके अस्तित्व में हेतु है ।

सं०-अब जीवात्मा के अस्तित्व में और हेतु कहते हैं :-

षष्ठीव्यपदेशादपि । ३ ।

पद०-षष्ठीव्यपदेशात् । अपि ।

पदा०-(षष्ठीव्यपदेशात्) यह मेरा शरीर है, यह षष्ठीविभक्ति का कथन (अपि) भी उसकी सिद्धि में हेतु है ।

सं०-ननु, ऐसा कथन तो **पुरुषस्य चैतन्यम्** = पुरुष का चेतन है, इस प्रकार गौण पाया जाता है ? उत्तर :-

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् । ४ ।

पद०-न । शिलापुत्रवत् । धर्मिग्राहकमानबाधात् ।

पदा०-(धर्मिग्राहकमानबाधात्) धर्मि = जीवात्मा उसके ग्राहक = ग्रहण करानेवाले जो प्रमाण उनके द्वारा गौण का बाध पाए जाने से (शिलापुत्रवत्) पत्थर के खण्ड के शरीर समान षष्ठी का कथन (न) नहीं ।

भाष्य-**अहंसुखी** = मैं सुखी हूं, **अहंदुखी** = मैं दुखी हूं, इसप्रकार जीवात्मा की सिद्धि में जो प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं उनसे उक्त गौण की प्रतीति बाधित होजाती है । यदि शरीर ही चेतन होता तो

मृतकावस्था में भी चेतन बना रहता, इत्यादि अनुमान से शिलापुत्र के शरीर के समान यह मेरा शरीर है यह प्रतीति गौण नहीं।

सं०—ननु, जीवात्मा शरीर से पृथक् होने पर भी अविद्यादि क्लेशों से क्लेशित ही रहेगा फिर उसकी कृतकृत्यता कैसे? उत्तरः—

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्याकृतकृत्यता। ५।

पद०—अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या। कृतकृत्यता।

पदा०—(अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या) दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति से जीवात्मा को (कृतकृत्यता) कृतकृत्यता होती है।

भाष्य—विवेकद्वारा दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होने से पुरुष कृतकृत्य होजाता है अर्थात् फिर अविद्यादि क्लेश उसके दुःख का कारण नहीं होते।

सं०—ननु, पुरुष लौकिक सुखों से ही कृतकृत्य होसकता है फिर मुक्ति में क्या विशेषता? उत्तरः—

यथादुःखात्क्लेशःपुरुषस्यन तथासुखा-दभिलाषः। ६।

पद०—यथा। दुःखात्। क्लेशः। पुरुषस्य। न। तथा। सुखात्। अभिलाषः।

पदा०—(यथा) जैसा (पुरुषस्य) पुरुष को (दुःखात्) दुःख से (क्लेशः) क्लेश होता है (तथा) वैसा (सुखात्) सुख से (अभिलाषः) आनन्द (न) नहीं होता।

भाष्य—पुरुष को लौकिक सुखों में जितना दुःख होता है उतना आनन्द नहीं होता इसलिये उनसे पुरुष कृतकृत्य नहीं होसकता।

सं०—अब इसी बात को अगले सूत्र में कथन करते हैं:—

कुत्रापिकोऽपिसुखीति। ७।

पद०—कुत्र। अपि। कः। अपि। सुखी। इति।

पदा०—(कुत्र, अपि) किसी जगह भी (कः, अपि) कोई भी सुखी नहीं होसकता (इति) इसलिये मुक्ति में विशेषता है।

भाष्य—इससूत्र में पूर्व सूत्र से "न" की अनुवृत्ति आती है। लौकिक सुखों से कोई पुरुष किसी अवस्था में भी सर्वथा सुखी नहीं होसकता, इसलिये मुक्ति में विशेषता है।

सं०—अब मुक्ति में और विशेषता कथन करते हैं:—

तदपिदुःखशबलमितिदुःखपक्षेनिःक्ष-पन्ते विवेचकाः। ८।

पद०—तत्। अपि। दुःखशबलं। इति। दुःखपक्षे। निःक्षपन्ते। विवेचकाः।

पदा०—(तत्, अपि) वह लौकिक सुख भी (दुःखशबलं) दुःख के साथ मिले हुए हैं (इति) इसलिये (विवेचकाः) सत्यासत्य का विवेक करनेवाले पुरुष उन सुखों को (दुःखपक्षे) दुःखपक्ष में (निःक्षपन्ते) रखते हैं।

सं०—ननु, यदि सुख भी दुःखपक्ष में हैं तो मुक्ति उस सुख का अभावरूप होने से पुरुष का अर्थ नहीं होसकती? उत्तरः—

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैविध्यात्। ९।

पद०—सुखलाभाभावात्। अपुरुषार्थत्वं। इति। चेत्। न। द्वैविध्यात्।

पदा०—(द्वैविध्यात्) मुक्ति दो प्रकार से होने के कारण (सुख

लाभाभावात्) सुखस्वरूप न होने से (अपुरुषार्थत्वं) पुरुष का अर्थ नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक (न) नहीं ।

भाष्य-ईश्वरानन्द का उपभोग और अविद्यादि क्लेशों की निवृत्ति का नाम "मुक्ति" है इसलिये सुख के अभाव को मुक्ति कहना ठीक नहीं क्योंकि "सोऽश्नुतेसर्वान्कामान्सहब्रह्मणा विपश्चिता" तै०त्ति०१।२ = मुक्तपुरुष ब्रह्म की प्राप्ति से ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है जैसाकि "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" तै०२।३ = मुक्तपुरुष ब्रह्म के आनन्द का उपभोग करता हुआ किसी से भय नहीं करता। इत्यादि औपनिषद वाक्यों में ब्रह्मानन्द का वर्णन पायाजाता है और "विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौकृतकृत्योनेतरान्नेतरात्" सां० ३।८४ इत्यादिकों में दुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति प्रतिपादन की गई है, एवं मुक्ति द्वैविध्यात् = दो प्रकार की होने से सुख का अभावरूप नहीं ।

सं०-ननु, जब जीवात्मा ज्ञानगुण से मुक्ति में परमात्मा के आनन्द का भोक्ता है तो निर्गुण कैसे? उत्तर:-

निर्गुणत्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः । १० ।

पद०-निर्गुणत्वं । आत्मनः । असङ्गत्वादिश्रुतेः ।

पदा०-(आत्मनः) आत्मा (असङ्गत्वादिश्रुतेः) असङ्गत्व आदि धर्मोंवाला सुनेजाने से (निर्गुणत्वं) निर्गुण है ।

भाष्य-"परंज्योतिरुपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा का स्वरूप निर्गुण मानागया है और मुक्ति में केवल अपने स्वरूपभृत ज्ञान से परमात्मा के आनन्द का

भोक्ता होता है किसी वृत्तिविशेष वा ज्ञानविशेष से नहीं, अतएव जीवात्मा के निर्गुण होने में कोई बाधा नहीं ।

सं०-ननु, बन्धन तो प्रकृति का गुण है फिर पर के धर्म से पुरुष में बन्धन कैसे? उत्तर:-

परधर्मत्वेऽपितत्सिद्धिरविवेकात् । ११ ।

पद०-परधर्मत्वे । अपि । तत्सिद्धिः । अविवेकात् ।

पदा०-(अविवेकात्) अज्ञान द्वारा (परधर्मत्वे) पराए धर्मों से (अपि) भी (तत्सिद्धिः) जीव के बन्धन की सिद्धि होती है ।

भाष्य-यद्यपि जीव के बन्धन का हेतु प्रकृति के गुण प्रकृतिनिष्ठ हैं तथापि अज्ञान से जीव को बन्धन होता है ।

सं०-ननु, सांख्यसिद्धान्त में जीव तो असङ्ग है फिर उसको अज्ञान का सङ्ग कैसे? उत्तर:-

अनादिरविवेकोऽन्यथादोषद्वयप्रसक्तेः ।१२।

पद०-अनादिः । अविवेकः । अन्यथा । दोषद्वयप्रसक्तेः ।

पदा०-(अविवेकः, अनादिः) अविवेक अनादि है (अन्यथा) यदि ऐसा न मानाजाय तो (दोषद्वयप्रसक्तेः) दो दोष आते हैं ।

भाष्य-यदि अज्ञान को सादि मानाजाय तो अज्ञान का कारण कोई और अज्ञान मानना पड़ेगा और उसका कारण और इसप्रकार मानने से अनवस्थादोष आएगा। और दूसरे अज्ञान के सादिमानने से संसारचक्र को भी सादि मानना पड़ेगा और वस्तुतः "सूर्य्याचन्द्रमसौधातायथापूर्वमकल्पयत्" ऋ० ८।८।४८।२० इत्यादि मंत्रों द्वारा संसार प्रवाहरूप से अनादि पायाजाता है ।

कई एक टीकाकारों ने मुक्त पुरुष को फिर बन्धन में आने

का दोष इस सूत्र में माना है, इस दोष से वह अज्ञान को अनादि मानकर भी निर्मुक्त नहीं होसक्ते क्योंकि सांख्य सिद्धान्त में बन्ध नैमित्तिक है स्वाभाविक नहीं, जब बन्ध नैमित्तिक है तो उस निमित्त से प्रथम जीव नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव था फिर मुक्त को बन्धन कैसे ? और वैदिक सिद्धान्त में तो मुक्ति से फिर संसार में आना कोई दोष ही नहीं जैसाकि "पितरञ्चदृशेयम् मातरञ्च" ऋ० १ । २४ । २ = मैं माता पिता को फिर देखूं । अतएव अज्ञान को सादि मानने में अनवस्था और संसार के सादित्व का दोष आता है ।

सं०—ननु, अनादि मानने पर अविवेक नित्य हुआ ? उत्तर :—

न नित्यःस्यादात्मवदन्यथाऽनुच्छित्तेः । १३ ।

पद०—न । नित्यः । स्यात् । आत्मवत् । अन्यथा । अनुच्छित्तेः ।

पदा०—(नित्यः, स्यात्, न) अविवेक नित्य नहीं होसक्ता क्योंकि उसको (अन्यथा) नित्य मानने पर (आत्मवत्) आत्मा के समान (अनुच्छित्तेः) उसका नाश नहीं होगा ।

सं०—ननु, अविवेक के नाश का कारण क्या है ? उत्तर :—

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् । १४ ।

पद०—प्रतिनियतकारणनाश्यत्वं । अस्य । ध्वान्तवत् ।

पदा०—(ध्वान्तवत्) अन्धकार के समान (अस्य) अज्ञान का (प्रतिनियतकारणनाश्यत्वं) प्रतिनियतकारण जो विवेकज्ञान उससे उसका नाश होता है ।

भाष्य—जिस प्रकार अन्धकार का नाशक प्रकाश नियत कारण है इसी प्रकार अविवेक के नाश का नियत कारण विवेक है ।

सं०—ननु, अन्धकार के नाशक प्रकाश में तो अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है अर्थात् प्रकाश होने पर अन्धकार का नाश होता है न होनेपर नहीं ? उत्तर :—

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् । १५ ।

पद०—अत्र । अपि । प्रतिनियमः । अन्वयव्यतिरेकात् ।

पदा०—(अत्र, अपि) अविवेक में भी (प्रतिनियमः) नियम पूर्वक (अन्वयव्यतिरेकात्) अन्वय व्यतिरेक से नाश्यनाशकभाव पाया जाता है ।

भाष्य—जिस प्रकार अन्धकार में प्रकाशनाश्यत्व का अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है इसी प्रकार अज्ञान में भी अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है ।

सं०—ननु, बन्ध तो प्रकृति के गुणों से होता है फिर उसका नाशक विवेक कैसे ? उत्तर :—

प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः । १६ ।

पद०—प्रकारान्तरासंभवात् । अविवेकः । एव । बन्धः ।

पदा०—(प्रकारान्तरासंभवात्) अन्य कोई प्रकार न बन सकने से (अविवेकः, एव) अविवेक ही (बन्धः) बन्ध है ।

भाष्य—यद्यपि बन्ध का कारण प्रकृति के गुण हैं परन्तु साक्षात् कारण अविवेक है जैसाकि :—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ गी० १४ । १७

अर्थ–सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं। अज्ञान, अविवेक, मिथ्याज्ञान, यह सब सांख्यसिद्धान्त में पर्य्यायवाची शब्द हैं, एवं परम्परा से प्रकृति के तमोगुण से उत्पन्न होने वाला अविवेक ही बन्ध है और अविवेक का निवर्तक ध्वान्त के समान विवेक ज्ञान है इसलिये परम्परा से प्रकृति के गुण बन्ध का कारण होने से कोई दोष नहीं।

सं०–ननु, तीनों गुणों की अत्यन्त निवृत्ति न होने के कारण यदि मुक्ति अवस्था में भी तमोगुण के आविर्भाव से फिर बन्ध होजाया तो क्या उपाय ? उत्तर :–

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः। १७।

पद०–न। मुक्तस्य। पुनः। बन्धयोगः। अपि। अनावृत्तिश्रुतेः।

पदा०–(मुक्तस्य) मुक्तपुरुष का (पुनः) मुक्ति अवस्था में (अनावृत्तिश्रुतेः) बार २ आवर्त्तन न सुने जाने से (अपि) भी (बन्धयोगः) बन्ध का योग (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य–मुक्ति अवस्था में फिर तमोगुण का आविर्भाव नहीं होता क्योंकि उस अवस्था में अज्ञान के नाशक श्रवण, मननादि साधनों की आवृत्ति नहीं सुनी जाती।

तात्पर्य्य यह है कि मुक्तपुरुष कृतकृत्य होजाता है इसलिये उसको फिर मननादि साधन सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं रहती। इस से यह पाया जाता है कि जब अज्ञान के नाशक मननादि साधनों की भी आवश्यकता नहीं तो फिर बन्ध की तो कथा ही क्या।

कई एक टीकाकारों ने इस सूत्र के अर्थ मुक्ति से न लौटने के किये हैं अर्थात् इस सूत्र से मुक्तिअवस्था को नित्य सिद्ध किया है पर यह अर्थ सांख्यसिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है जैसाकि "गुणादीनाञ्चनात्यन्तबाधः" सां० ५। २६ में गुणों का अत्यन्त बाध नहीं माना गया और होभी कैसे सक्ता है जबकि सांख्य सिद्धान्त में सत्कार्य्यवाद माना गया है अर्थात् कार्य्य कारणाकार होकर सदा रहता है, फिर तमोगुण का अत्यन्तबाध कैसे होसक्ता है और सांख्य सिद्धान्त में किसी पदार्थ की उत्पत्ति तथा नाश नहीं होता केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है, इसलिये साम्यावस्था में तीनों गुण समभाव से प्रकृति में रहते हैं नाश को प्राप्त नहीं होते।

भाव यह है कि बन्ध अविवेकरूप हो अथवा बुद्धिसत्त्व के तादात्म्यभाव से हो वा कर्मरूपी निमित्त से हो, सांख्यसिद्धान्त में बन्ध का तिरोभाव होता है नाश नहीं, इसलिये मुक्ति नित्य नहीं होसक्ती। दूसरी बात यह है कि जब मुक्ति समाधि, सुषुप्ति के समान एक अवस्था विशेष है तो उसकी नित्यता कैसे क्योंकि सब अवस्थाएं अपने समय से अनन्तर निवृत्त होजाती हैं अतएव मुक्ति का नित्य मानना ठीक नहीं।

सं०–ननु, मुक्ति में श्रवण, मननादि साधनों की आवृत्ति का निषेध क्यों किया गया है ? उत्तर :–

अपुरुषार्थत्वमन्यथा। १८।

पद०–अपुरुषार्थत्वं। अन्यथा।

पदा०–(अन्यथा) यदि मुक्तपुरुष के मुक्तिरूप ऐश्वर्य्य में

साधनों की आवश्यकता रहे तो (अपुरुषार्थत्वं) मुक्ति में मुक्तिपन न रहेगा ।

भाष्य-पुरुष के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इस चार प्रकार के पुरुषार्थ में साधन रहित पुरुषार्थ मुक्ति अवस्था ही है, यदि उसमें भी फिर साधन सम्पत्ति का अभ्यास करना पड़े तो मुक्तिका आनन्द क्या ! इस अभिप्राय से मुक्ति अवस्था में साधनों की आवृत्ति का निषेध किया है ।

सं०-ननु, मुक्ति अवस्था में श्रवण, मननादि साधन किये जायं तो क्या दोष ? उत्तर :-

अविशेषापत्तिरुभयोः । १९ ।

पद०-अविशेषापत्तिः । उभयोः ।

पदा०-(उभयोः) बन्ध और मुक्ति दोनों में (अविशेषापत्तिः) फिर कोई भेद न रहेगा ।

भाष्य-यदि मुक्ति अवस्था में भी साधन करने पड़ें तो बद्धावस्था से कोई भेद न रहेगा, इसलिये मुक्ति में साधनों की आवृत्ति करना ठीक नहीं ।

सं०-ननु, जिससे लौटकर फिर संसार में आना हो वह मुक्ति ही क्या ? उत्तर :-

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्नपरः । २० ।

पद०-मुक्तिः । अन्तरायध्वस्तेः । न । परः ।

पदा०-(अन्तरायध्वस्तेः) विघ्नों के नाश से (परः) भिन्न (मुक्तिः) मुक्ति (न) नहीं ।

भाष्य-योगशास्त्र में जो प्रमादादि विघ्न कथन किये हैं उनके नाश से भिन्न मुक्ति नहीं अर्थात् अन्तरायों का नाश ही मुक्ति है ।

सं०-ननु, तुम तो पीछे दुःखों का नाश और परमात्मा के आनन्द का उपभोग मुक्ति मान आए हो और यहां केवल विघ्नों का नाश ही मुक्ति कथन की है, यह परस्पर विरोध क्यों ? उत्तर :-

तत्राप्यविरोधः । २१ ।

पद०-तत्र । अपि । अविरोधः ।

पदा०-(तत्र) परमात्मा के आनन्द का उपभोग मानने में (अपि) भी (अविरोधः) कोई विरोध नहीं ।

भाष्य-सांख्य सिद्धान्त में केवल विघ्नों का अभाव ही मुक्ति नहीं किन्तु "सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वं०" सां० ६ । ९ इत्यादि सूत्रों में दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को मुक्ति माना है इसलिये कोई विरोध नहीं ।

सं०-ननु, मुक्ति के साधनों का सबको एक जैसा ही अनुष्ठान करना चाहिये वा न्यूनाधिक ? उत्तर :-

अधिकारित्रैविध्यान्ननियमः । २२ ।

पद०-अधिकारित्रैविध्यात् । न । नियमः ।

पदा०-(अधिकारित्रैविध्यात्) तीन प्रकार के अधिकारियों के भेद से (नियमः) एक प्रकार के अनुष्ठान का नियम (न) नहीं ।

भाष्य-उत्तम, मध्यम, मन्द, इस भेद से अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं, किसी को श्रवणमात्र से ही ज्ञान होजाता है, किसी को मननादिकों से इसलिये एक जैसे अनुष्ठान का नियम नहीं ।

सं०-ननु, यदि उत्तमाधिकारी मननादिक न करे तो क्या दोष ? उत्तर :-

दार्ढ्यार्थमुत्तरेषाम् । २३ ।

पद०-दार्ढ्यार्थम् । उत्तरेषाम् ।

पदा०-(दार्ढ्यार्थम्) दृढ़ता के लिये (उत्तरेषाम्) मननादिकों का अनुष्ठान उत्तमाधिकारी को भी कर्तव्य है ।

सं०-ननु,मननादि साधनों को किन २ आसनों से करे? उत्तरः-

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः । २४ ।

पद०-स्थिरसुखं । आसनं । इति । न । नियमः ।

पदा०-(स्थिरसुखं) जो भले प्रकार स्थिति का हेतु हो और सुख जनक हो (आसनं) वही आसन ठीक है (नियमः) किसी आसन विशेष का नियम (न) नहीं ।

सं०-अब ध्यान का लक्षण कहते हैं :-

ध्यानं निर्विषयं मनः । २५ ।

पद०-ध्यानं । निर्विषयं । मनः ।

पदा०-(मनः) मन का (निर्विषयं) विषयों से रहित होना ही (ध्यानं) ध्यान है ।

भाष्य-"निर्विषयं" शब्द के अर्थ दुःखादि विघ्नों के हैं अर्थात् जब दुःखादि विघ्नों से मन सर्वथा रहित होजाता है तब उसकी ध्यानावस्था होती है । ध्यान शब्द के अर्थ यहां निदिध्यासन के हैं, मनन किये हुए अर्थ को वृत्ति में आरूढ़ करने के लिये पुनः २ चिन्तन का नाम "निदिध्यासन" है ।

सं०-ननु, विक्षेपों वाला पुरुष भी ध्यान कर सक्ता है फिर निर्विषयं क्यों कहा? उत्तर :-

उभयथाप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः । २६ ।

पद०-उभयथा । अपि । अविशेषः । चेत् । न । एवं । उपरागनिरोधात् । विशेषः ।

पदा०-(चेत्) यदि यह कहाजाय कि (उभयथा) दोनों प्रकार से (अपि) भी (अविशेषः) कोई भेद नहीं तो (एवं) यह ठीक (न) नहीं क्योंकि (उपरागनिरोधात्) विक्षेपों से निरुद्धचित्तवाले पुरुष में (विशेषः) विशेषता पाईजाती है ।

भाष्य-व्याधि आदि चित्त के विक्षेप और उनके साथ होने वाले दुःखादि विघ्नों के अभावद्वारा चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाले पुरुष में विशेषता पाईजाती है इसीलिये इनके प्रतिषेधार्थ योगशास्त्र में एकमात्र ईश्वर का अभ्यास लिखा है ।

सं०-ननु, निर्विकारपुरुष में विक्षेपरूपी उपराग कैसे? उत्तरः-

निःसंगेऽप्युपरागोऽविवेकात् । २७ ।

पद०-निःसंगे । अपि । उपरागः । अविवेकात् ।

पदा०-(अविवेकात्) अविवेक से (निःसंगे, अपि) असङ्गपुरुष मेंभी (उपरागः) विक्षेपों का सम्बन्ध होता है ।

भाष्य-जीव परिच्छिन्न होने के कारण अल्पज्ञ है और अल्पज्ञ में अविवेक का होना अवर्जनीय है इसलिये जीव में उपराग = बुद्धिसत्त्व के साथ तादात्म्य = भ्रांति दर्शनादि विक्षेप अविवेक से होसकते हैं ।

सं०-ननु, स्फटिक में प्रतिबिम्बित पुष्प की रक्तता के समान स्वरूप से शुद्ध पुरुष में उपराग मानाजाय तो भी प्रतिबिम्बग्राही होने से पुरुष विकारी होगा? उत्तर :-

जवास्फटिकयोरिवनोपरागः किन्त्वभिमानः । २८ ।

पद०–जवास्फटिकयोः।इव।न। उपरागः। किन्तु। अभिमानः।

पदा०–(जवास्फटिकयोः,इव) जवा फूल तथा स्फटिकमणि के समान प्राकृतधर्म पुरुष में प्रतिविम्बित (न) नहीं होते (किन्तु) उनका (अभिमानः) आरोप होता है।

भाष्य–बुद्धिसत्त्व के तादात्म्याध्यास से पुरुष में उपराग का आरोप होता है, निराकार होने के कारण उसमें प्रतिविम्ब नहीं पड़सकता।

सं०–अब विक्षेप तथा विघ्नों के निरोध का उपाय कथन करते हैं:–

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः। २९।

पद०–ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिः। तत्। निरोधः।

पदा०–(ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिः) ध्यान = परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन, धारणा = नाभि आदि चक्रोंद्वारा चित्त को स्थिर करना, अभ्यास = ईश्वर की भक्ति करना, वैराग्य = पर और अपरवैराग्य इनसे (तत्) उन विक्षेपों का (निरोधः) निरोध होता है।

भाष्य–इस सूत्र में विक्षेप और वासनाओं के निरोध का उपाय ध्यानादिक कथन कियेगए हैं जिससे ज्ञात होता है कि सांख्य ईश्वरवाद का दर्शन है अन्यथा ध्यानादि किस विषयक कियेजायें? प्रकृति का ध्यान इसलिये नहीं बनसकता कि प्रकृति का त्याग ही तो पुरुषार्थ है और पुरुष का अपना आप नित्यप्राप्त है उसका ध्यान ही क्या, एवं विचार करने से ध्येयपदार्थ एक ईश्वर ही ठहरता है, उसी का ध्यान यहां लिखा है, अतएव सांख्य वैदिकदर्शन है।

सं०–ननु, ध्यानादिद्वारा वृत्ति का साक्षात् निरोध होजाता है अथवा परम्परा से? उत्तर:–

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्य्याः। ३०।

पद०–लयविक्षेपयोः। व्यावृत्त्या। इति। आचार्य्याः।

पदा०–(आचार्य्याः) सांख्याचार्य्य (इति) यह मानते हैं कि (लयविक्षेपयोः) निद्रा आदि विक्षेपों की (व्यावृत्त्या) निवृत्ति से वृत्ति का निरोध होजाता है।

सं०–ननु, ध्यानादि किसी पुण्यक्षेत्र में करने चाहियें अथवा यत्र तत्र? उत्तर:–

नस्थाननियमश्चित्तप्रसादात्। ३१।

पद०–न। स्थाननियमः। चित्तप्रसादात्।

पदा०–(चित्तप्रसादात्) चित्त की प्रसन्नता पाए जाने से (स्थाननियमः) किसी स्थानविशेष का नियम (न) नहीं।

भाष्य–ध्यानादि करने के लिये किसी पुण्यक्षेत्र का नियम नहीं, जहां चित्तप्रसन्नतापूर्वक ध्यानादि करसके वही पुण्यक्षेत्र है।

सं०–ननु, जिन बुद्धि आदिकों के तादात्म्य से पुरुष में वासनाओं का अभिमान होता है उस अभिमान का मूल कारण क्या है? उत्तर:–

प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषांतत्कार्य्यत्वश्रुतेः। ३२।

पद०–प्रकृतेः। आद्योपादानता। अन्येषां। तत्कार्य्यत्वश्रुतेः।

पदा०–(आद्योपादानता) आदि उपादानता (प्रकृतेः) प्रकृति की है उसीसे पुरुष में वासनों का अभिमान होता है (अन्येषां) अन्य महत्तत्त्वादि (तत्कार्य्यत्वश्रुतेः) प्रकृति का कार्य्य सुनेजाने से मुख्य कारण नहीं।

भाष्य–पुरुष के बन्धनभूत उपराग का मुख्यकारण प्रकृति है और अन्य सब महत्तत्त्वादि उसके कार्य्य हैं, इसलिये वह मुख्य कारण नहीं।

सं०–ननु, आत्मा भी तो अनादि है उसी को मुख्य कारण क्यों न माना जाय ? उत्तर :–

नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात्। ३३।

पद०–नित्यत्वे। अपि। न। आत्मनः। योग्यत्वाभावात्।

पदा०–(आत्मनः) आत्मा में (योग्यत्वाभावात्) बन्धन के हेतुभूत उपराग की योग्यता का अभाव होने से (नित्यत्वे, अपि) नित्य होने पर भी मुख्य कारण (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य–बन्धन की योग्यता गुणों में है और वह गुण प्रकृति में हैं इसलिये प्रकृति में बन्धन की योग्यता है और आत्मा असङ्ग होने से उस में बन्धन की योग्यता नहीं।

सं०–ननु, अविद्योपहित आत्मा बन्धन की योग्यता वाला होसक्ता है ? उत्तर :–

श्रुतिविरोधान्नकुतर्कापसदस्यात्मलाभः। ३४।

पद०–श्रुतिविरोधात्। न। कुतर्कापसदस्य। आत्मलाभः।

पदा०–(श्रुतिविरोधात्) श्रुति के विरोध से (कुतर्कापसदस्य) वेदविरोधि तर्क से दूषित पुरुष को (आत्मलाभः) आत्मा की प्राप्ति (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य–यदि परमात्मा को अविद्योपहित मानकर उसमें जगत् के उपादानकारण की योग्यता मानीजाय तो "सपर्य्यगाच्छुक्रमकाय" यजु०४०।८ इत्यादि श्रुतियों से विरोध आता है क्योंकि वेद परमात्मा को कूटस्थ नित्य वर्णन करता है, इसलिये परमात्मा विषयक अविद्या मानने वाले कुतर्की को एकरस अपरिणामि नित्य परमात्मा का लाभ नहीं होता, इसलिये उसमें अविद्या मानने से भी वह जगत् का उपादानकारण नहीं होसकता।

सं०–ननु, घटादि कार्य्यों के कारण पृथिवी आदि तत्त्व ही पाएजाते हैं फिर प्रकृति मूलकारण कैसे? उत्तर :–

पारम्पर्येऽपिप्रधानानुवृत्तिरणुवत्। ३५।

पद०–पारम्पर्ये। अपि। प्रधानानुवृत्तिः। अणुवत्।

पदा०–(अणुवत्) परमाणुओं के समान (पारम्पर्ये, अपि) प्रकृति घटादिकों का साक्षात् कारण न होने पर भी (प्रधानानुवृत्तिः) प्रकृति की ही कारणता की अनुवृत्ति पाईजाती है।

भाष्य–जिस प्रकार घटादि कार्य्यों के परमाणु साक्षात् कारण नहीं, साक्षात् कारण परमाणुओं का संघात है इसी प्रकार प्रकृति भी अपने संघात द्वारा कारण है, अतएव संघात में मुख्यतया प्रकृति की अनुवृत्ति पाए जाने से वही मूल कारण है।

सं०–ननु, गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति तो सूक्ष्म है वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का कारण कैसे होसक्ती है ? उत्तर :–

सर्वत्र कार्य्यदर्शनाद्विभुत्वम्। ३६।

पद०–सर्वत्र। कार्य्यदर्शनात्। विभुत्वम्।

पदा०–(सर्वत्र) सब स्थानों में (कार्य्यदर्शनात्) कार्य्य देखे जाने से (विभुत्वम्) प्रकृति सब स्थानों में है।

भाष्य–इस सूत्र में प्रकृति को ब्रह्माण्डों की अपेक्षा से विभु

माना है इसलिये प्रकृति सापेक्ष विभु है, परमात्मा के समान निर-पेक्ष विभु नहीं, निरपेक्ष विभु केवल परमात्मा है जैसाकि "**एतावानस्य महिमातोज्यायांश्चपूरुषः**" यजु० ३१। ३ इत्यादि मन्त्रों में प्रकृति को परमात्मा के एकदेश में माना है अतएव प्रकृति सर्वथा विभु नहीं।

सं०-ननु, जब कार्य्याकार प्रकृति का परिणाम होता है तो वह गति वाली होने से विकारिणी होकर विनाश को प्राप्त होजायगी? उत्तर :—

गतियोगेऽप्याद्यकारणताऽह्यानिरणुवत्।३७।

पद०-गतियोगे। अपि। आद्यकारणताहानिः। अणुवत्।

पदा०-(अणुवत्) परमाणुओं के समान (गतियोगे, अपि) प्रकृति में क्रिया मानने पर भी (आद्यकारणताहानिः) उसके उपादान कारण की हानि नहीं।

भाष्य-जिस प्रकार परमाणु गति वाले होकर भी उपादानकारण होसक्ते हैं इसी प्रकार प्रकृति भी गतिमती होकर भी उपादानकारण होसक्ती है इसलिये कोई दोष नहीं।

पूर्व ३५वें सूत्र में और इस सूत्र में परमाणुओं के दृष्टान्त से सांख्यकर्त्ता ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि अन्य शास्त्रकार भी परमाणुओं को नित्य मानते हैं, यदि शास्त्रों में परस्पर एक दूसरे के सिद्धान्तों को खण्डन करने का भाव होता तो इन सूत्रों में परमाणुओं के दृष्टान्त न दिये जाते, दृष्टान्तों से पाया जाता है कि शास्त्रों में परस्पर एक दूसरे के सिद्धान्तों के खण्डन का भाव नहीं।

सं०-ननु, जिस प्रकार पृथिवीआदि भूत अपने २ नियत कार्य्यों

के कारण हैं इसी प्रकार प्रकृति भी नियत कार्य्यों के प्रति कारण होनी चाहिये? उत्तर :-

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः। ३८।

पद०-प्रसिद्धाधिक्यं। प्रधानस्य। न। नियमः।

पदा०-(प्रधानस्य) प्रकृति की (प्रसिद्धाधिक्यं) पृथिव्यादि प्रसिद्ध पदार्थों से अधिकता पाई जाती है इसलिये (नियमः) प्रकृति में नियत कार्य्य का नियम (न) नहीं।

भाष्य-प्रकृति सब भूतों से बड़ी होने के कारण कार्य्यमात्र का कारण है, इसलिये किसी एक कार्य्य का कारण होने का प्रकृति में नियम नहीं।

सं०-ननु, प्रकृति सत्त्वादिधर्मों के कारण तीन प्रकार की होने से एक कैसे? उत्तर :-

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्। ३९।

पद०-सत्त्वादीनां। अतद्धर्मत्वं। तद्रूपत्वात्।

पदा०-(तद्रूपत्वात्) प्रकृति स्वरूप होने से (सत्त्वादीनां) सत्त्वादिगुण (अतद्धर्मत्वं) प्रकृति के धर्म नहीं।

भाष्य-वास्तव में सत्त्वादि प्रकृति के धर्म नहीं किन्तु प्रकृति के स्वरूपभूत हैं जैसाकि सच्चिदानन्दादिभाव ब्रह्म व्यतिरिक्त पदार्थान्तर नहीं इसीप्रकार सत्त्वादिगुण भी पदार्थान्तर नहीं। उनका गुण नाम बन्धन का हेतु भूत होने से है और वह बन्धन हेतु प्रकृति का तामस भाव है तथा राग का हेतु रजोभाव और ज्ञान का हेतु सत्त्वभाव है, एवं तीनों धर्म प्रकृति से भिन्न नहीं।

सं०-ननु, प्रकृति तो जड़ है उसको सृष्टि रचने में क्या लाभ? उत्तर :-

अनुपभोगेऽपिपुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्र कुङ्कुमवहनवत् ।४० ।

पद०—अनुपभोगे । अपि । पुमर्थं । सृष्टिः । प्रधानस्य । उष्ट्र-कुङ्कुमवहनवत् ।

पदा०—(उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्) ऊंट के केसर का बोझ लेजाने के समान (प्रधानस्य) प्रकृति का (अनुपभोगे, अपि) अपना प्रयोजन न होने पर भी (पुमर्थं) पुरुष के लिये (सृष्टिः) सृष्टि रचती है ।

भाष्य—जिस प्रकार ऊंट का स्वामी ऊंटपर बोझ लादकर मनुष्यों के लाभार्थ देशान्तर में लेजाता है इसी प्रकार प्रकृति का स्वामी लोकोपकार के लिये प्रकृति से सृष्टि निर्माण कराता है, इसलिये प्रकृति का अपना उपयोग न होने पर भी सृष्टि रचना में कोई दोष नहीं ।

सं०—ननु, एक ही प्रकृति के कार्य्य ब्रह्माण्ड में विचित्रता कैसे ? उत्तर :—

कर्मवैचित्र्यात्सृष्टिवैचित्र्यम् । ४१ ।

पद०—कर्मवैचित्र्यात् । सृष्टिवैचित्र्यम् ।

पदा०—(कर्मवैचित्र्यात्) कर्मों की विचित्रता से (सृष्टिवैचि-त्र्यम्) सृष्टि में विचित्रता पाईजाती है ।

भाष्य—जीवों के कर्म नाना प्रकार के पाएजाने से सृष्टि में विचित्रता पाईजाती है ।

सं०—ननु, कर्मनिमित्त से सृष्टि में विचित्रता रहो पर एक ही प्रकृतिरूपी कारण से प्रलय और उत्पत्ति दो विरुद्धकार्य्य कैसे? उत्तरः—

साम्यवैषम्याभ्यांकार्य्यद्वयम् । ४२ ।

पद०—साम्यवैषम्याभ्यां । कार्य्यद्वयम् ।

पदा०—(साम्यवैषम्याभ्यां) सम और विषम परिणाम से (कार्य्यद्वयम्) उत्पत्ति तथा प्रलयरूपी दोनों कार्य्य होते हैं ।

भाष्य—स्वरूप और विरूप भेद से प्रकृति के दो परिणाम होते हैं, स्वरूपपरिणाम से प्रलय होती है और विरूपपरिणाम से सृष्टि की रचना होती है । महत्तत्त्वादिरूप से होनेवाले परिणाम का नाम "**विरूपपरिणाम**" है, यह परिणाम प्रकृति की साम्यावस्था से विरुद्ध है इसलिये इसका नाम विरूपपरिणाम है । स्थूलभूत, पञ्च-तन्मात्र, इन सबका अपने २ कारण में लय होने का नाम "**स्वरूप-परिणाम**" है । यह परिणाम प्रकृति की साम्यावस्था की ओर जाने से साम्यावस्था के समान है इसलिये इसको स्वरूपपरिणाम कहते हैं एवं उक्त परिणामद्वय से उत्पत्ति और प्रलयरूपी दोनों कार्य्यों के होने में कोई दोष नहीं ।

सं०—ननु, किससमय प्रकृति पुरुष के लिये सृष्टि नहीं रचती? उत्तरः—

विमुक्तबोधान्नसृष्टिःप्रधानस्यलोकवत् ।४३।

पद०—विमुक्तबोधात् । न । सृष्टिः । प्रधानस्य । लोकवत् ।

पदा०—(लोकवत्) लोक के समान (विमुक्तबोधात्) जब पुरुष को प्रकृति पुरुष का बोध होजाता है तब (प्रधानस्य) प्रकृति की (सृष्टिः) सृष्टि (न) नहीं होती ।

भाष्य—जिसप्रकार लोक में जब पुरुष कृत्कार्य्य होजाता है तब उसके लिये फिर कार्य्यारम्भ नहीं होता इसीप्रकार कृत्कार्य्य होने से मुक्तपुरुष के लिये प्रकृति सृष्टि रचना नहीं करती ।

सं०–ननु, जब बद्धपुरुषों के लिये प्रकृति में सृष्टि रचने की क्रिया होती है तो मुक्तपुरुषों के लिये क्यों नहीं ? उत्तर :–

नान्योपसर्पणेऽपिमुक्तोपभोगोनिमित्ताभावात् । ४४ ।

पद०–न । अन्योपसर्पणे । अपि । मुक्तोपभोगः । निमित्ताभावात् ।

पदा०–(निमित्ताभावात्) किसी निमित्त के न पाएजाने से (अन्योपसर्पणे,अपि) बद्धपुरुषों के लिये क्रिया होने से भी (मुक्तोपभोगः) मुक्तों के लिये भोग (न) नहीं होता ।

भाष्य–बद्धपुरुष के लिये ही प्रकृति की क्रिया होती है मुक्तपुरुष के लिये नहीं क्योंकि उसके भोग के लिये कोई निमित्त नहीं रहा ।

सं०–ननु, अद्वैतवाद में तो आत्मा एक ही है फिर एक पुरुष के बन्धन के लिये जो प्रकृति की चेष्टा है वह सबके लिये समान है ? उत्तर :—

पुरुषबहुत्वंव्यवस्थातः । ४५ ।

पद०–पुरुषबहुत्वं । व्यवस्थातः ।

पदा०–(व्यवस्थातः) व्यवस्था से नाना पायेजाने के कारण (पुरुषबहुत्वं) जीवात्मारूप पुरुष बहुत हैं ।

भाष्य–यदि पुरुष एक ही होता तो एक के सुखदुःख से सब सुखी दुःखी होने चाहियें, पर ऐसा न होने से पायाजाता है कि पुरुष नाना हैं एक नहीं ।

सं०–ननु, जीवात्मा एक मानकर भी उपाधिकृतभेद से सुखदुःख की व्यवस्था होसकती है ? उत्तर :–

उपाधिश्चेत्तत्सिद्धौपुनर्द्वैतम् । ४६ ।

पद०–उपाधिः । चेत् । तत्सिद्धौ । पुनः । द्वैतम् ।

पदा०–(चेत्) यदि (तत्सिद्धौ) पूर्वोक्त सुख दुःख की सिद्धि के लिये (उपाधिः) उपाधि मानीजाय तो (पुनः) फिर (द्वैतम्) द्वैतवाद का दोष लगेगा ।

भाष्य–आत्मा से उपाधि भिन्न होने के कारण उपाधि मानने से द्वैतवाद का दोष बना रहेगा ।

सं०–ननु, उपाधि तो आविद्यक है वस्तुतः नहीं, फिर उससे द्वैतवाद कैसे ? उत्तर :–

द्वाभ्यामपिप्रमाणविरोधः । ४७ ।

पद०–द्वाभ्यां । अपि । प्रमाणविरोधः ।

पदा०–(द्वाभ्यां, अपि) अविद्या और पुरुष के मानने से भी (प्रमाणविरोधः) अद्वैतवादियों के एकत्व के साधक प्रमाण के साथ विरोध आएगा ।

भाष्य–यदि उपाधि को आविद्यक मानाजाय तबभी अविद्या आत्मा से भिन्न हुई और ऐसा मानने से अद्वैत के साधक प्रमाण के साथ विरोध आया, यदि उपाधि को आविद्यक मानाजाय तब भी उक्त दोष नहीं मिटसक्ता, इसलिये अविद्या मानने से भी द्वैतवाद दोष का परिहार नहीं होता ।

सं०–ननु, प्रकृतिपुरुष का भेद भी अविद्यामात्र है फिर उससे द्वैत कैसे? उत्तर :–

द्वाभ्यामप्यविरोधान्नपूर्वमुत्तरञ्च साधकाभावात् । ४८ ।

पद०-द्वाभ्यां । अपि । अविरोधात् । न । पूर्वं । उत्तरम् । च । साधकाभावात् ।

पदा०-(द्वाभ्यां, अपि) प्रकृति और पुरुष के मानने पर भी (अविरोधात्) कोई विरोध न होने से (पूर्वं) उपाधिकृतभेद मानना ठीक (न) नहीं (च) और (उत्तरम्) एकमात्र पुरुष ही है (साधकाभावात्) इसका साधक कोई प्रमाण न मिलने से यह भी ठीक नहीं।

भाष्य-यदि प्रकृति पुरुष को मानकर पुण्यपाप की व्यवस्था कीजाय तो यह हमको भी इष्ट है पर ऐसा मानने से तुम्हारा उपाधिकृत भेद न रहेगा और यदि एक चेतनमात्र ही मानें और सब रज्जुसर्प के समान कल्पित मानें तो इस विषय में कोई प्रमाण न मिलने से यह ठीक नहीं क्योंकि जो प्रमाण है वह भी चेतन से भिन्न होने के कारण रज्जुसर्प के समान कल्पित होने से तुम्हारे मत में कोई प्रमाण नहीं बनसकता।

सं०-ननु, हमारे मत में आत्मा स्वतःप्रमाण है इसलिये उसके स्वतस्त्व से ही एकत्व की सिद्धि होसकती है फिर प्रमाणान्तर मानने की क्या आवश्यकता ? उत्तरः-

प्रकाशतस्तत्सिद्धौकर्मकर्तृविरोधः ।४९।

पद०-प्रकाशतः । तत्सिद्धौ । कर्मकर्तृविरोधः ।

पदा०-(प्रकाशतः) अपने प्रकाश से (तत्सिद्धौ) अद्वैत की सिद्धि मानने पर (कर्मकर्तृविरोधः) कर्म और कर्त्ता का विरोध होगा।

भाष्य-यदि अद्वैत विषय में उसी का प्रमाण मानाजाय तो वही प्रकाश्य और वही प्रकाशक होने से आप ही कर्म और आप ही कर्त्ता इसप्रकार विरुद्धधर्मों के मानने से कर्मकर्तृविरोध होगा इसलिये अद्वैत में अद्वैत ही प्रमाण नहीं होसकता ।

सं०-ननु, आपके मत में चिद्रूप जीवात्मा स्व का स्वयंप्रकाश कैसे ? उत्तरः-

जड़व्यावृत्तोजड़ंप्रकाशयतिचिद्रूपः । ५० ।

पद०-जड़व्यावृत्तः । जड़ंप्रकाशयति । चिद्रूपः ।

पदा०-(चिद्रूपः) चेतनस्वरूप जीवात्मा (जड़व्यावृत्तः) जड़ से भिन्न है (जड़ंप्रकाशयति) जड़ को प्रकाश करता है ।

भाष्य-जीवात्मा जड़ पदार्थों से भिन्न है और जड़ पदार्थों का प्रकाश करता है । यद्यपि वह स्व का स्वयं प्रकाशक है तथापि उसमें कर्मकर्तृविरोध नहीं क्योंकि वह प्रकाशक भी है जैसाकि सूर्य्य स्वतः प्रकाशक भी है और पर प्रकाशक भी है पर अद्वैतवादियों के मत में जब प्रकाश से भिन्न प्रकाश्य कोई वस्तु ही नहीं तो प्रकाश क्या, इसलिये स्वतः प्रकाश से अद्वैतवाद की सिद्धि नहीं होती ।

सं०-ननु,यदि अद्वैत न माना जाय तो "पुरुष एवेदꣳसर्वं" "स एष नेतिनेति" बृहदा० ६ । २ । ४ इत्यादि श्रुति और उपनिषद्वाक्यों से विरोध आएगा ? उत्तर :-

न श्रुतिविरोधोरागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः । ५१ ।

पद०-न । श्रुतिविरोधः । रागिणां । वैराग्याय । तत्सिद्धेः ।

पदा०-(रागीणां) रागि पुरुषों के (वैराग्याय) वैराग्याय के लिये (तत्सिद्धेः) उक्त श्रुति की सिद्धि पाए जाने से (श्रुतिविरोधः) श्रुति का विरोध (न) नहीं ।

भाष्य-जो श्रुति सर्ववस्तुजात को ब्रह्म कथन करती हैं और जगत् का निषेध करती हैं वह वैराग्य के अभिप्राय से हैं अर्थात् इस अभिप्राय से हैं कि संसार में आस्थाबुद्धि होकर राग उत्पन्न न हो, इसलिये उक्त श्रुतियों में ब्रह्म से भिन्न वस्तुओं का निषेध किया गया है।

सं०-ननु, यदि जगत् को सत्य माना जाय तो उक्त कल्पना वैराग्य के अभिप्राय से होसक्ती है अन्यथा नहीं ? उत्तर :-

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधकाभावात्।५२।

पद०-जगत्सत्यत्वं। अदुष्टकारणजन्यत्वात्। बाधकाभावात्।

पदा०-(बाधकाभावात्) किसी बाधक ज्ञान के न होने से और (अदुष्टकारणजन्यत्वात्) किसी दोष युक्त कारण से उत्पन्न न होने के कारण (जगत्सत्यत्वं) जगत् सत्य है।

भाष्य-जिस प्रकार स्वाप्नपदार्थ निद्रादि दोषजन्य होते हैं इस प्रकार जगत् किसी दोष से प्रतीत न होने के कारण सत्य है। और युक्ति यह है कि वह किसी बाधक ज्ञान से रज्जु सर्प के समान मिट नहीं सक्ता, इसलिये भी सत्य है। मायावादियों के मत के समान मिथ्या नहीं।

सं०-ननु,यदि जगत् सत्य है तो उसकी उत्पत्ति कैसे ? उत्तर :-

प्रकारान्तरासंभवात्सदुत्पत्तिः।५३।

पद०-प्रकारान्तरासंभवात्। सदुत्पत्तिः।

पदा०-(प्रकारान्तरासंभवात्) कोई अन्य प्रकार न बन सकने से (सदुत्पत्तिः) सत् की ही उत्पत्ति होती है।

भाष्य-जगत् रज्जु सर्प के समान मिथ्याज्ञान से उत्पन्न नहीं होसक्ता और नाहीं इसकी उत्पत्ति का अन्य कोई प्रकार बन सक्ता है, इसलिये सत् की ही उत्पत्ति मानना ठीक है। सांख्य सिद्धान्त में सत्कार्य्यवाद ही माना है अर्थात् कार्य्य अपने कारण में प्रथम ही विद्यमान होने से उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है उत्पत्ति नहीं, इसलिये जगत् सत्य है।

केवल शङ्कर और बौद्ध फ़िलासफ़ी में जगत् को असत् माना गया है अन्य कोई भी जगत् को असत् नहीं मानता सब शास्त्रकार एकमत होकर जगत् के उपादान कारण प्रकृति को सत्य ही मानते हैं फिर जगत् रज्जु सर्प के समान असत् कैसे होसक्ता है। मिट्टीरूपी सत् कारण के घटादि कार्य्य भ्रममात्र न देखे जाने से सत् ही हैं, अतएव सत् की उत्पत्ति मानना ही युक्त है अन्यथा नहीं।

ननु-सांख्यशास्त्र में भी तो सदसत्ख्याति मानी है जिसके अर्थ सत्यासत्य ज्ञान को ग्रहण न करना है अर्थात् विपर्य्यय वा मिथ्याज्ञान है और जगत् रूप सब बन्ध अविवेककृत हैं तो फिर अविवेक रचित जगत् सत्य कैसे ?

उत्तर-सांख्यशास्त्रकार ने सदसत्ख्याति शुक्तिरजतादि भ्रम स्थलों में मानी है जगत् विषयक नहीं। और अविवेक से बन्ध का तात्पर्य्य यह है कि जीव अविवेक से प्रकृति के बन्धन में पड़ता है, मायावादियों के समान जगदुत्पत्ति का निमित्त अविवेक कहीं भी नहीं माना गया और प्रकृति में स्वस्वामीभावसम्बन्ध भी कर्मों के निमित्त से माना गया है भ्रम से नहीं, एवं सदसत्ख्यातिवादि कपिल तथा अख्यातिवादि मीमांसक और सत्ख्यातिवादि रामानुज आदि सब आचार्य्य जगत् को सत् ही मानते हैं मिथ्या नहीं।

और जो कहीं २ जगत् को अनित्य कथन किया है वह तिरोभाव के अभिप्राय से है असत् के अभिप्राय से नहीं, यदि जगत् अत्यन्तालीक होता तो उसकी उत्पत्ति कदापि न होती, इसलिये सत् के आविर्भाव का नाम ही सांख्यशास्त्र में उत्पत्ति है।

सं०-ननु, यदि कार्य्य सत् है तो पुरुष घटको करता है, पट को करता है, इस प्रकार की प्रतीति क्यों होती है ? उत्तर :-

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः । ५४ ।

पद०-अहंकारः । कर्त्ता । न । पुरुषः ।

पदा०-(अहंकारः) अहंकार ही कर्त्ता है (पुरुषः) पुरुष (न) नहीं।

भाष्य-पुरुष का घटादिकों में कर्तृत्व मानना अहंकार मात्र से है वास्तव में नहीं जैसाकि "अहंकारविमूढात्माकर्त्ताऽहमिति मन्यते" इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि प्रकृति में ही कार्य्यत्व है अर्थात् प्रकृति ही कार्य्याकार को धारण करती है पुरुष का अहंकारमात्र है।

सं०-ननु, ऐसा मानने से तो पुरुष का भोक्तृत्व भी सिद्ध न होसकेगा ? उत्तर :-

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ।५५।

पद०-चिदवसाना । भुक्तिः । तत्कर्मार्जितत्वात् ।

पदा०-(तत्कर्मार्जितत्वात्) अहंकार विशिष्ट जीव के कर्मों से (भुक्तिः) भोग (चिदवसाना) अहंकारविशिष्ट चेतन को होता है।

भाष्य-जिस प्रकार अहंकारविशिष्टपुरुष में कर्तृत्व है इसी प्रकार भोग भी अहंकारविशिष्ट पुरुष में है अर्थात् बुद्धिसत्त्वतादा-

त्म्य वाले पुरुष को भोग होता है केवल पुरुष को नहीं।

यद्यपि कर्तृत्व के समान भोक्तृत्व भी अहंकारविशिष्ट में है तथापि अहंकार जड़ होने से उसमें भोक्तृत्व नहीं होसक्ता इसलिये भोक्तृत्व की अनुभूति चेतन में ही होती है जड़ में नहीं।

सं०-ननु, पुरुष फल भोग के लिये इसी भूगोल पर रहता है अथवा अन्य लोकों में भी जन्म पासक्ता है ? उत्तर :-

चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्त-सद्भावात् । ५६ ।

पद०-चन्द्रादिलोके । अपि । आवृत्तिः । निमित्तसद्भावात् ।

पदा०-(निमित्तसद्भावात्) निमित्त के पाए जाने से (चन्द्रादिलोके) चन्द्रादि लोकों में (अपि) भी (आवृत्तिः) वर्त्तना = पुनर्जन्म होता है।

सं०-ननु, उन लोकों में मुक्ति के साधनों का अनुष्ठान करना पड़ता है वा नहीं ? उत्तर :-

लोकस्य नोपदेशात्सिद्धिः पूर्ववत् । ५७ ।

पद०-लोकस्य । न । उपदेशात् । सिद्धिः । पूर्ववत् ।

पदा०-(पूर्ववत्) पूर्व लोकों के समान (लोकस्य) चन्द्रलोक के सम्बन्ध वाले पुरुष को (उपदेशात्) उपदेशमात्र से (सिद्धिः) मुक्ति की सिद्धि (न) नहीं होती।

सं०-ननु, तो फिर मुक्ति की सिद्धि कैसे होती है ? उत्तर :-

पारम्पर्य्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः । ५८ ।

पद०-पारम्पर्य्येण । तत्सिद्धौ । विमुक्तिश्रुतिः ।

पदा०-(पारम्पर्य्येण) श्रवण, मननादि द्वारा (तत्सिद्धौ) विवेकज्ञान की सिद्धि होने पर (विमुक्तिश्रुतिः) वहां मुक्ति का श्रवण पाया जाता है ।

भाष्य-इस लोक के समान लोकान्तरों में भी अनुष्ठान से ही फल की सिद्धि होती है उपदेशमात्र से नहीं जैसाकि इस लौकिक न्याय में वर्णन किया है कि **दृष्टाद्धिअदृष्टसिद्धिः**=इस लोक के ज्ञान से परलोक के नियमों का भी ज्ञान होजाता है । इस से सिद्ध हुआ कि उन लोकों में भी अनुष्ठान द्वारा ही फल की सिद्धि होती है उपदेशमात्र से नहीं ।

सं०-अब इस उपसंहाराध्याय में जीव के विभुवाद का फिर पूर्वपक्ष करते हैं :-

गतिश्रुतेश्चव्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्भोग देशकाललाभोव्योमवत् । ५९ ।

पद०-गतिश्रुतेः । च । व्यापकत्वे । अपि । उपाधियोगात् । भोगदेशकाललाभः । व्योमवत् ।

पदा०-(व्योमवत्) आकाश के समान (व्यापकत्वे) जीव के व्यापक होने पर (च) और (उपाधियोगात्) उपाधि के कारण (गतिश्रुतेः) गति पाएजाने से (अपि) भी (भोगदेशकाललाभः) जीव को भोग, देश तथा काल का लाभ होसक्ता है ।

भाष्य-जिसप्रकार आकाश के विभु होने पर भी उसमें घटरूप उपाधि के कारण गति पाईजाती है इसीप्रकार जीव के व्यापक होने पर भी उसमें उपाधि के कारण गति होसक्ती है और विभु जीव लिङ्गशरीर की उपाधि से देशदेशान्तरों में जन्मधारण करसक्ता है ।

सं०-अब उत्तर कथन करते हैं :-

अनधिष्ठितस्यपूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः । ६० ।

पद०-अनधिष्ठितस्य । पूतिभावप्रसंगात् । न । तत्सिद्धिः ।

पदा०-(अनधिष्ठितस्य) जीव के अधिष्ठाता न होने से जो (पूतिभावप्रसंगात्) जीव के शरीर का गलजाना कथन करआए हैं उससे (तत्सिद्धिः) जीव के विभु होने की सिद्धि (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य-यदि जीवात्मा विभु होता तो उसका शरीर सड़गल कर अमङ्गलरूप कदापि न होता, अमङ्गलरूप होने से पायाजाता है कि जीवात्मा विभु नहीं ।

सं०-जीवात्मा के विभुवाद में और दोष यह है कि एक के सुखी दुःखी होने से सब सुखी दुःखी होने चाहियें और यदि अदृष्टद्वारा व्यवस्था मानीजाय तब भी नहीं बनसक्ती, अब इसबात को उपपादन करते हैं :-

अदृष्टद्वाराचेदसम्बद्धस्यतदसंभवा- ज्जलादिवदङ्कुरे । ६१ ।

पद०-अदृष्टद्वारा । चेत् । असम्बद्धस्य । तत् । असंभवात् । जलादिवत् । अङ्कुरे ।

पदा०-(अदृष्टद्वारा, असम्बद्धस्य) अदृष्टोंद्वारा जहां जिसका सम्बन्ध नहीं है वहां के (तत्) सुखदुःख का अनुभव उसको नहीं होता (चेत्) यदि ऐसा कहाजाय तो (असंभवात्) असंभव होने से ठीक नहीं क्योंकि (अङ्कुरे) अङ्कुर में (जलादिवत्) जलादिकों के समान नियम होना चाहिये ।

भाष्य यदि यह मानाजाय कि जिसके सुख दुःख के अदृष्ट

जिस जीवात्मा से सम्बन्ध रखते हैं वह सुखदुःख उसीको अनुभव होता है यह ठीक नहीं क्योंकि जीवात्मा के विभु होने से सब अदृष्टों का सब जीवात्माओं के साथ सम्बन्ध है, फिर यह कैसे कहा जासकता है कि यह इसीके अदृष्ट हैं जिसप्रकार अंकुर में जल का नियम है कि जो जल जिस अंकुर में दियाजाता है वह उसीकी वृद्धि का कारण होता है अन्य का नहीं एवं विभुवाद में पुण्य पाप से सुखदुःख की व्यवस्था का कोई नियम नहीं मिलता।

सं०—ननु, सांख्यसिद्धान्त में निर्गुण आत्मा में अदृष्टों का सम्बन्ध कैसे ? उत्तरः—

निर्गुणत्वात्तदसंभवादहंकारधर्माह्येते । ६२ ।

पद०—निर्गुणत्वात् । तत् । असंभवात् । अहंकारधर्मा । हि । एते ।

पदा०—(निर्गुणत्वात्) जीवात्मा के निर्गुण होने से (तत्) उस सम्बन्ध के (असम्भवात्) असम्भव होने से (एते) वह अदृष्ट (हि) निश्चय करके (अहंकारधर्मा) अहंकार के धर्म हैं।

सं०—अब इसी विषय में हेतु कथन करते हैं:—

विशिष्टस्यजीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् । ६३ ।

पद०—विशिष्टस्य । जीवत्वं । अन्वयव्यतिरेकात् ।

पदा०—(अन्वयव्यतिरेकात्) अन्वय = लिङ्गशरीर के साथ गति आदि जीव के धर्म पाएजाने से, व्यतिरेकात् = अन्यथा न पाएजाने से (जीवत्वं) जीव (विशिष्टस्य) अहंकार विशिष्ट है।

भाष्य—जीव शब्द के अर्थ यहां प्राणादिगति के हैं अर्थात् प्राण धारण कर्त्ता का नाम "जीव" है, अतएव ऐसा जीवत्व धर्म अहङ्कार विशिष्ट में ही पायाजाता है इसलिये उक्त अदृष्टादि अहंङ्कारविशिष्टजीवात्मा के ही धर्म हैं अहंकार रहित के नहीं।

सं०—ननु, परमात्मा तो विभु है फिर उसके एकदेश में कार्य्य क्यों होता है सम्पूर्ण में क्यों नहीं ? उत्तरः—

अहंकारकर्त्रधीनाकार्य्यसिद्धिर्नेश्वराधीनाप्रमाणाभावात् । ६४ ।

पद०—अहंकारकर्त्रधीना । कार्य्यसिद्धिः । न । ईश्वराधीना । प्रमाणाभावात् ।

पदा०—(कार्य्यसिद्धिः) जगत्रूपकार्य्य की सिद्धि (अहंकारकर्त्रधीना) अहंकार के कर्त्ता प्रधान के अधीन है (ईश्वराधीना) ईश्वर के अधीन (न) नहीं (प्रमाणाभावात्) किसीप्रमाण के न पाए जाने से।

भाष्य—विना उपादानकारण के कार्य्यता में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता इसलिये ईश्वर के विभु होने से सम्पूर्ण स्थान में सृष्टि होने का दोष नहीं आता क्योंकि कार्य्य की रचना उपादानकारण प्रकृति से होती है और वह परमात्मा के एकदेश में है जैसाकि "पादोऽस्यविश्वाभूतानित्रिपादस्याऽमृतंदिवि" य० ३१।३ इत्यादिवेदमंत्रों में पाया जाता है कि यह सारा विश्व उसके एकदेश में है और तीन पाद अमृत हैं। अतएव ईश्वर के सर्वदेशी होने से सृष्टि के सर्वदेशी होने का दोष ईश्वर पर नहीं लगता।

सं०—अब इसी विषय में और युक्ति कहते हैं:—

अदृष्टोद्भूतिवत्समानत्वम् । ६५ ।

पद०—अदृष्टोद्भूतिवत् । समानत्वम् ।

पदा०—(अदृष्टोद्भूतिवत्) जीव के एकदेश में अदृष्टों की उत्पत्ति के समान ईश्वर के एकदेश में सृष्टि होना (समानत्वम्) समान है।

भाष्य—जीवको विभु मानने वालों के मत में जिसप्रकार जीव

के एकदेश में अदृष्ट उत्पन्न होते हैं इसीप्रकार परमात्मा के एकदेश में सृष्टि होना समान है।

यह प्रतिबन्दी उत्तर है, वादि के समान सिद्धान्त को लेकर उत्तर देने का नाम "प्रतिबन्दी" है।

सं०—अब सृष्टि के क्रम का संक्षेप से उपसंहार करते हैं :—

महतोऽन्यत् । ६६ ।

पद०—महतः । अन्यत् ।

पदा०—(महतः) महत्तत्व से (अन्यत्) अहङ्कारादि कार्य्य उत्पन्न होते हैं।

भाष्य—प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकारादि कार्य्य उत्पन्न होते हैं सृष्टि का क्रम सां० १।६१ में विस्तार पूर्वक वर्णन कर आए हैं और यहां संकेतमात्र कथन किया है।

सं०—अब मतभेद से बन्ध का निरूपण करते हुए शास्त्र का उपसंहार करते हैं :—

कर्मनिमित्तःप्रकृतेःस्वस्वामीभावोऽप्यनादि-बीजाङ्कुरवत् । ६७ ।

पद०—कर्मनिमित्तः । प्रकृतेः । स्वस्वामिभावः। अपि । अनादिः। बीजाङ्कुरवत् ।

पदा०—(बीजांकुरवत्) बीज और अंकुर के समान (प्रकृतेः) प्रकृति का (स्वस्वामिभावः) स्वस्वामीभाव सम्बन्ध (कर्मनिमित्तः) कर्मरूपी निमित्तवाला हुआ २ (अपि) भी (अनादिः) अनादि है।

भाष्य—जिसप्रकार बीज से अंकुर और अंकुर से बीज यह प्रवाह अनादि है इसीप्रकार प्रकृति के स्वामित्व का अभिमान भी अनादि है। जिसप्रकार योगशास्त्र में षड़रचक्रप्रवाहरूप से अनादि

है, एवं यह भी अनादि है, षड़अरोंवाला चक्र यह है धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, राग,द्वेष। धर्माधर्म से सुख दुःख, सुखदुःख से राग द्वेष, रागद्वेष से फिर धर्माधर्म, यह चक्र अविद्यारूपी दण्डद्वारा अनादि काल से भ्रमण कर रहा है।

जिसप्रकार अविद्यारूपी निमित्तवाला होकर भी यह चक्र अनादि है एवं कर्मनैमित्तिकप्रकृति का स्वस्वामिभावसम्बन्ध भी अनादि है वह इस प्रकार कि प्रकृतिपुरुष के स्वस्वामिभावरूपसंयोग का हेतु अविद्या और वह जीव के अल्पज्ञ होने के कारण अविना-भावी होने से प्रवाहरूपद्वारा अनादि है अतएव इसका कार्य्य प्रकृति पुरुष का स्वस्वामिभावसम्बन्ध भी प्रवाहरूप से अनादि है।

सं०—अब इसविषय में पंचशिखाचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः । ६८ ।

पद०—अविवेकनिमित्तः । वा । पञ्चशिखः ।

पदा०—(पञ्चशिखः) पञ्चशिखाचार्य्य यह मानते हैं कि बन्धरूप प्रकृतिपुरुष का संयोग (अविवेकनिमित्तः) अज्ञानरूपीनिमित्त से है (वा) पक्षान्तर के लिये आया है।

सं०—अब इसी विषय में सनन्दनाचार्य्य का मतः कथन करते हैं :—

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दना-चार्य्यः । ६९ ।

पद०—लिङ्गशरीरनिमित्तकः । इति । सनन्दनाचार्य्यः ।

पदा०—(सनन्दनाचार्य्यः, इति) सनन्दनाचार्य्य यह मानते हैं कि (लिङ्गशरीरनिमित्तकः) लिङ्गशरीर के निमित्त से यह संयोग है।

भाष्य—उक्त तीनों आचार्य्यों के कथन में सिद्धान्त भेद नहीं किन्तु प्रकार भेद है, वह इसप्रकार कि लिङ्गशरीर कर्मों से होता है

इसलिये कर्म निमित्त हैं और अविवेककृत कर्मों से प्रकृति के संयोग की प्राप्ति है इसलिये अविवेक निमित्त है और कर्म प्रकृतिपुरुष का संयोगकरादेने में अविनाभावी हैं, इसप्रकार तीनों कारण बनसक्ते हैं, अतएव तीनों मत परस्पर विरुद्ध नहीं ।

सं०–अस्तु, कोई कारण रहो प्रकृति पुरुष का स्वस्वामीभावरूप संयोग के उच्छेद से परमपुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, अब इस विषय का उपपादन करते हैं :–

यद्वातद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः । ७० ।

पद०–यत् । वा । तत् । वा । तत् । उच्छित्तिः । पुरुषार्थः ।

पदा०–(यत्, वा, तत्, वा) जिस किसी कारण से बन्ध हो (तत्) उसकी (उच्छत्तिः) निवृत्ति ही परमपुरुषार्थ = मुक्ति है ।

भाष्य–"तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः" यह पद दोवार सूत्र में अध्याय की समाप्ति के लिये आया है ।

उक्त प्रकृतिरूप बन्ध की निवृत्ति और ईश्वरानन्द का उपभोग "मुक्ति" है जिसका वर्णन सां० ६ । ९ में विस्तार पूर्वक कर आए हैं, इसलिये यहां दुवारा लिखना व्यर्थ है ।

ब्रह्मानन्द के उपभोग को मुक्ति मानने वाले जिज्ञासु इस भाव को उक्त सूत्र तथा " समाधिसुषुप्तिमोक्षेषुब्रह्मरूपता सां० ५ । ११६ के भाष्य में देखलें ।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
सांख्यार्य्यभाष्ये
षष्ठाध्यायः
॥ समाप्तश्चायंग्रन्थः ॥